भाषा दर्शन

रामानन्द

वि
१८५



कैलाश दर्शन



स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी, एम० ए०

मिलने का पता:—
साधना कार्यालय,
पो० बीसलपुर, जिला पीलीभीत (उ० प्र०)

मूल्य १।।।)

प्रथम संस्करण
१०००

काशीनाथ मित्तल
प्रकाशक

मुद्रक—टंडन प्रिंटिंग वर्क्स, ५-ए, अलबर्ट, रोड, इलाहाबाद।



विषय सूची

विषय		पृष्ठ
१.	कैलाश यात्रा	१
२.	जोहार का मार्ग	४
३.	बागेश्वर से आगे	८
४.	पथ-भ्रष्ट	१३
५.	राम गंगा के उस पार	१६
६.	गिरगाँव में कुली शेड	२४
७.	काला मुनि की चढ़ाई	२८
८.	बर्फ़ों की ओर	३१
९.	बर्फ़ों के समीप	३८
१०.	बुर्फु में मुकाम	४२
११.	मिलम से प्रस्थान	४६
१२.	वह अलौकिक भूमि	५३
१३.	ऊंटा, जयन्ती और कुँगरी बिगंरी	५९
१४.	तिब्बत में प्रवेश	६६
१५.	तीर्थापुरी की ओर	७२
१६.	तिब्बत के मैदान	७६
१७.	भीतर की एक झांकी	८२
१८.	गुर्ग्यम का विहार	८५
१९.	तीर्थापुरी	९१
२०.	कैलाश का प्रथम दर्शन	९६
२१.	कैलाश के चरणों में	१०३

२२.	कैलाश की परिक्रमा	... ...	१०६
२३.	गौरी कुँड की दिशा में	... ...	११३
२४.	वह दिव्य स्थल	... ...	१२२
२५.	दर्चिन की ओर	... ...	१२६
२६.	दर्चिन की मंडी	... ...	१३१
२७.	मानसरोवर की ओर	... ...	१३६
२८.	राक्षसताल के किनारे	... .	१४४
२९.	तकला कोट की ओर	... ...	१५१
३०.	तकलाकोट में	... ...	१५५
३१.	लिपुलेख का घाटा	....	१६१
३२.	कालापानी	....	१७०
३३.	गर्ब्यांग की ओर	....	१७३
३४.	मालिया और जिप्ती	... ...	१७६
३५.	शमखोला और आगे	... .	१८६
३६.	नारायण-आश्रम	... ...	१६१
३७.	खेला से भी आगे	... ...	१६४
३८.	कालिका से अस्कोट	... ...	१६८
३९.	डीडीहाट	... ...	२०६
४०.	मसमौली	... ...	२०६
४१.	वह कोटेश्वर की धार	... ...	२१४
४२.	रीठागाढ़ का धाम	... .	२१७
४३.	यात्रियों से	... ...	२२४

प्रकाशक की ओर

कितनी प्रतीक्षा के बाद आज कैलाश-दर्शन हम पाठकों के हाथ में रखने लगे हैं। कितनी उत्सुकता से लोग इसकी माँग कर रहे थे और कितनी अड़चनें आईं इसके प्रकाशन में।

यह पुस्तक वास्तव में पूज्य श्री स्वामी जी ने प्रकाशन के लिए लिखी न थी। साधना की दृष्टि से वह इसे महत्व भी न देते थे। अतः दूसरी पुस्तकों के प्रकाशित हो जाने पर ही इसको प्रकाशित किया जा सका। अतः पाठक लोग हमें क्षमा करेंगे।

जैसी भी छपी है यह आपके सामने है। हमें सन्तोष अवश्य हो रहा है इसकी छपाई पर अपनी सीमाओं को देखते हुए। यद्यपि, हम जानते हैं कि इसे अधिक सुन्दर बनाया जा सकता था।

इसके प्रकाशन का खर्चा भी साधना परिवार के एक सदस्य ने उठाया है। हम उसके आभारी है।

प्रकाशक

साधना कार्यालय

पो० बीसलपुर, जिला पीलीभीत।



श्रीराम

प्राक्कथन

प्रिय बन्धुओ,

आज मैंने फिर लेखनी को उठाया है। गतवर्ष भी इन्हीं दिनों में मैंने "अध्यात्म विकास" और "आध्यात्मिक साधन" पर लिखा था। परन्तु इस बार तो कुछ और प्रकार की प्रेरणा ही प्रेरक है। कैलाश-यात्रा से मैं अभी-अभी लौटा हूँ। वे अनुभूतियाँ अब मनोरम स्मृतियाँ बनकर अन्तर को उद्वेलित कर रही हैं। उन अनुभव की हुई चेतनाओं को फिर उद्भावित करना और शब्दों में चित्रित करने का प्रयत्न, एक रुचिकर खेल-सा प्रतीत होता है। कुछ अनुभूतियाँ तो वास्तव में ऐसी भी हैं कि यदि मैं उनकी झाँईं भी आप में जागृत कर सकूँ तो आपके लिए वह बहुत हितकारी होगी, आपके विकास की दृष्टि से।

खेल खेलने में, मनो-विनोद में, मैं किसी प्रकार की बुराई नहीं देखता। बालक तो खेल से ही विकास पाते हैं। उनका जीवन ही तो एक बड़ा खेल-सा रहता है, बड़ों की दृष्टि में; परन्तु बड़े हो जाने पर व्यक्ति में गम्भीरता आती है, आसक्तियाँ तथा महत्वाकांक्षायें जगती हैं, अपने महत्व को वह स्थापित कर लेता है। अब उसे अपना जीवन खेल नहीं लगता और न ही अपने समान दूसरे व्यक्तियों का ही जीवन। उनमें वह उद्देश्यों को आसक्ति की दृष्टि से देखने लगता है और उसी के अनुसार चिन्ताओं का भी पोषण करता है, परन्तु जो विकास के क्षेत्र में उससे आगे बढ़े हैं उनको उसकी सभी क्रियायें, सभी उद्देश्य और उनकी

पूर्त्ति के लिए की गई हलचल—सभी एक खेल ही दीखता है। यदि दृष्टि ज़रा और ऊपर उठाई जा सके तो यह सारा विश्व भी उस पुरुषोत्तम की, महाशक्ति की, क्रीड़ा ही तो दीखती है, आनन्दमयी लीला ही तो लगती है। इस दृष्टि को—इस चेतना को लाभ कर व्यक्ति आनन्द, पूर्ण हो जाते हैं और उस लीलामय की लीला में सतत योग दिया करते हैं।

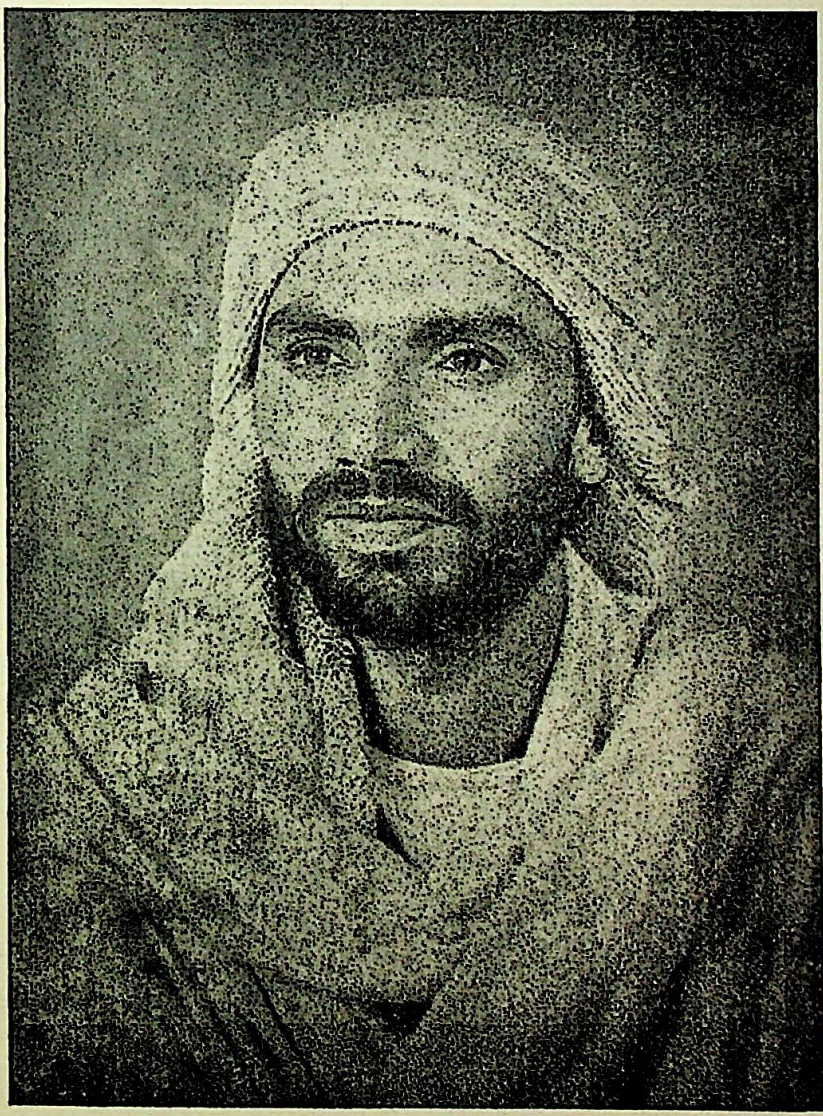
मैं भी ऐसा ही खेल खेलने जा रहा हूँ। और यह है आँख मिचौनी का सा खेल या यूँ कहिए कि अपनी छाया को स्वयं पकड़ने का प्रयास। जैसे ठोस वस्तुओं को रेखाओं द्वारा काग़ज़ पर अङ्कित करने का प्रयत्न आंशिक सफलता को ही प्राप्त कर सकता है, ठीक वैसे ही वाणी भी चेतना की उन विशुद्ध उच्च अनुभूतियों को प्रकट करने में थोड़ी ही सफलता प्राप्त कर सकती है। वाणी संकेत मात्र करेगी। आँख वाले देख पायेंगे, उस संकेत से ही। इस महती सीमा के होने पर भी यह खेल खेलने योग्य ही है। यह प्रयत्न ही एक आनन्द का कारण है। अपने में तो उस चेतना की जागृति तथा उन अनुभवों की स्मृति को उभाड़ना कठिन नहीं, और अब फिर से उस जीवन को जी जाना, पार्थिव-स्तर की सीमाओं से मुक्त होकर, स्मृति के सजीव जगत् में, विशेष आनन्द-प्रद प्रतीत होता है। यही प्रेरणा है इन आगामी पृष्ठों के लिए।

न जाने क्यों आज मुझे सभी कुछ सजीव सचेतन दिखाई पड़ रहा है। लेखनी को मैं सखी सा प्रतीत करता हूँ और वैसे ही दवात, काग़ज़ तथा इस स्थल को, जहाँ पर आश्रित हो मैं यह कृत्य कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरी कृति वास्तव में मेरी ही कृति नहीं, वह तो अनेकों की सम्मिलित कृति होगी। मैं उन सब में केवल एक हूँ। आज एक विचित्र श्रद्धामयी भावना सभी की ओर प्रेरित हो रही है, जिन्हें लोग जड़ कहते हैं उनके लिए भी।

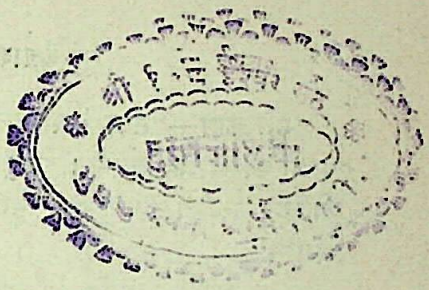
'ऐ लेखनिके ! तू मेरा योग देना, और मसी तू भी। हम मिलकर उन पुण्यस्थलों की स्मृतियों को अङ्कित करने का लीलामय प्रयत्न करेंगे। अब हम कैलाश-दर्शन के लिए अपने कदम बढ़ाते हैं।'

आपका अपना,
प्रभु के नाते
रामानन्द।

रामकुटीर,
दिगौली (अल्मोड़ा)
२८-८-४६



श्री स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी



कैलाश-यात्रा

(१)

कैलाश को जाने के पथ अनेक हैं। विभिन्न धुरों को पार करके यात्री कैलाश पहुँचते हैं, परन्तु सबसे अधिक सुगम तथा प्रचलित पथ तो अल्मोड़े वाला ही है। वर्ष में कम से कम पाँच मास मेरे अल्मोड़े के आस पास ही व्यतीत होते रहे हैं। प्रतिवर्ष यात्रियों को कैलाश के लिए जाते हुए देखा तथा सुना करता था और फिर लौटकर आये हुए यात्रियों की कुछ चर्चा भी सुनने को मिलती थी, कुछ पुस्तकें भी इसी विषय पर हाथ लगी थीं। अतः इच्छा जागृत हुई कि स्वयं उस भूमि को और कैलाश को देखें। एक दूसरे मित्र भी लगभग २० बरस से कैलाश जाने की सोच रहे थे। उन्हीं के घर पर गतवर्ष चर्चा हो रही थी। शायद सितम्बर का महीना रहा होगा।

वह मित्र बोले "अबके कैलाश चलें।"

मैंने कहा—"हर साल की सोच तो मुझे पसन्द नहीं। निश्चय करना हो तो पक्का करियेगा, मैं भी वैसा ही अपना कार्यक्रम बनाऊ, तब फिर चलना ही पड़ेगा।"

उन्होंने कहा—"हाँ, बस, निश्चय ही आगामी वर्ष चलेंगे।"

मैंने कहा—"ठीक ! संभवतः दो सज्जन देश* के भी साथ चलने का आग्रह करेंगे। उन्हें भी ले चलना होगा, परन्तु मैं कोशिश करूंगा कि साथ बहुत बढ़ न जाये, नहीं तो कठिनाई होगी।"

गतवर्ष स्वामी विद्यानन्द जी के आग्रह से मैं तो तैय्यार हो ही रहा था और मास्टर कपूरी लाल भी, परन्तु अन्तरात्मा जाने के लिए प्रेरित नहीं कर रही थी, इसीलिए न गया। मास्टर साहब तो निराश हो चुके थे। श्री बाबूराव कुमठेकर (एक दूसरे मित्र) मुझसे वचन ले गये थे कि आगामी वर्ष मुझे उनको साथ ले जाना होगा।

जाड़े बीते, और गर्मियाँ आने लगीं। कैलाश यात्रा के बारे में जानकारी तथा तैय्यारी की चर्चा चलने लगी। समय के बारे में अनुभवी लोगों से पूछताछ होने लगी। देश वाले दोनों मित्र कपूरीलाल तथा नरेन्द्रकुमार भी उत्सुक हो रहे थे। वे लोग जून के अन्तिम सप्ताह में अल्मोड़े आ पहुँचे। ५ जुलाई को चलने का अन्तिम निश्चय था।

पहाड़ में रहने वालों के लिए कैलाश इतना भयंकर नहीं जितना कि मैदान में रहने वालों के लिए है। यहाँ पर ऐसे भी लोग हैं और स्त्रियाँ भी जो चार चार बार कैलाश-यात्रा कर चुके हैं, जैसे जैसे प्रस्थान का दिन निकट आने लगा वैसे ही साथियों की संख्या बढ़नी आरम्भ हो गई। कई माताओं का साथ चलने का आग्रह हुआ। वह आग्रह ही नहीं था, निश्चय

---

*देश—पहाड़ों में देश मैदान को कहा जाता है। इसका कारण संभवतः यही है कि यहाँ लोग बाहर से आकर बसे हैं।

ही था और वैसा ही हुआ। हम लोग ११ हो गये थे चलने वाले और एक श्री नारायण स्वामी मिलम में मिलने के विचार से पहिले ही चले गये थे, अपना समान छोड़कर। छः माताओं के अतिरिक्त वह मित्र भी थे जिनके घर पर पूर्वकथित चर्चा चली थी--पं० गोविन्दवल्लभ पन्त इञ्जीनीयर डिस्ट्रिक्ट वोर्ड अल्मोड़ा, दो देश वाले मित्र, एक नौकर और मैं। नौकर का नाम था दुर्गादत्त।

कुलियों का भी प्रबन्ध हो ही गया, यद्यपि काफी दौड़ धूप करनी पड़ी। अपनी समझ के अनुसार सामान रक्खा गया। तिब्बत तो ऐसी भूमि है जहाँ खाने के लिए कुछ न मिलेगा—यह हम जानते थे, परन्तु सभी कुछ अल्मोड़े से लेकर चलना भी तो उचित तथा संभव न था। कई तरह की सटर पटर सन्दूकों में भरकर ५ जुलाई को मध्याह्नोपरान्त हम सब चल दिये। धूप कड़ाके की थी, पसीना चूता था और प्यास भी व्याकुल कर रही थी। कई हृदयों में उल्लास था। जिनसे हम बिदा हुये थे वे मंगलकामनाएँ कर रहे थे। कैलाश की यात्रा सुगम नहीं है। सभी धामों में कठिन धाम है कैलाश। इस यात्रा में कइयों ने अपने प्राण खोये हैं। इन भावों को लिए उस बिदा के उपरान्त हमने कैलाश-पथ पर पग धरे।

मेरा चित्त शान्त था। मानो कुछ हो ही न रहा हो। एक विचित्र सी विचार शून्यता थी।

अन्तिम दिन तक कुमठेकर की राह देखता रहा परन्तु वह न आये। उनका स्वास्थ्य तथा अन्य आवश्यक कार्य बाधक हो गये।



जोहार का मार्ग

(२)

अल्मोड़े से तिब्बत में प्रवेश करने के दो प्रधान मार्ग हैं। एक मार्ग पश्चिम की ओर से जाता है। उस पर अन्तिम बस्ती और डाकघर मिलम है। पूर्व वाले पर गर्ब्याङ्ग। दोनो रास्तों से कैलाश जाना लगभग समान ही दूर पड़ता है।

गर्ब्याङ्ग वाला पथ, सुगम-पथ है। एक ही धुरा लांघना होता है। लिपुलेख; और तिब्बत में चलना भी कम होता है। गर्ब्याङ्ग तक जाना १४० मील है। इधर मिलम तक जाना तो केवल १०५ मील होता है, परन्तु धुरे तीन लांघने पड़ते हैं और उनकी ऊँचाई भी बहुत है और उतना ही अधिक तिब्बत में भी चलना पड़ता है। मिलम वाला पश्चिमी-मार्ग जोहार की पट्टी में से होकर जाता है अतः इसे "जोहार का मार्ग कहा जाता है।

"आसान रास्ते से जाने और लौटने में क्या मजा है। दोनों ही रास्ते देखने चाहिये।" यही प्रेरणा थी जिसने हमें जोहार का मार्ग लेने को बाधित किया।

जिस दृश्य को हम प्रतिदिन देखते हैं वह हमारे लिये नूतनता से रहित होता है और हमारी चेतना पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालता। वही दृश्य जब हमने पहले पहल देखा था तो उसका

विचित्र प्रभाव था। सामान्य पहाड़ी से किसी सुन्दर पर्वतीय स्थल को देखने को कहा जाय तो उसका उत्तर होता है—'क्या है वहाँ, पत्थर तथा चट्टानें ही तो।' वह जाता है तो तीर्थ करने। मुझे इन पर्वतों में रहते कई वर्ष हो गये। यहाँ के चीढ़ के जंगलों के दृश्य, खेतों की हरियाली और नदियों की कलकल तो मेरे मस्तिष्क में बस चुकी है। वह मन को शान्त तथा आह्लादित तो करती ही है, इसमें सन्देह नहीं परन्तु किसी नूतन चेतना को जागृत नहीं कर पाती। कपूरीलाल जी तो पहली बार ही पहाड़ों पर आये थे। वह तो हर दृश्य पर, हर वस्तु पर लट्टू से हुये जा रहे थे। अल्मोड़े से लेकर कफकोट तक का रास्ता और प्रदेश तो मेरी दृष्टि से सामान्य ही है।

पहली रात्रि ताकुला के डाकबंगले में बीती। मातायें बाहर ही रहीं सड़क के किनारे। जाड़ा तो था नहीं। दिन में धूप ने काफी सताया था। नींबू के रस से शान्ति मिली थी। पहाड़ी ककड़ी (खीरा) भी खूब मजा देती है चलने में। एक मित्र ने वह भी भेंट की थी।

जब व्यक्ति रास्ते पर पड़ता है तो चलने के साथ लगी हुई समस्यायें सामने आती हैं। पहले दिन हम लोग अन्धेरा होते होते डाक बँगले पर पहुँचे थे। अपने को झट से नये घर में बसाने की योग्यता तो धीरे धीरे ही आती है। हम अभी नये नये पथिक ही तो थे टाँगे भी अभी नया नया ही अभ्यास करने लगी थीं। धूप और चलना प्राणों को सोख लेते हैं। यही उस प्रथम दिन का अनुभव था। व्यक्ति की चेतना ऊँचे स्तरों को छोड़कर शरीर तथा प्राण में निवास करने लगती है। प्राण

बुभुक्षित हुआ आहार को मांगता है और शरीर शिथिल हुआ पड़ जाने की जगह को।

नरेन्द्र ने अपने कन्धों पर झोला कसा था। उस झोले ने कन्धों तथा शरीर को कसा। वहाँ पहुँचते पहुँचते उनके और तौर बिगड़ रहे थे।

अगले दिन सवेरे खाना पीना जल्दी जल्दी हुआ। इस बीच में जो अवकाश मिला, उसमें मैंने पिछली डाक को निबटाया। और हम लोग १० बजे के लगभग रास्ता नापने लगे।

ताकुला से बागेश्वर (जो आगामी पड़ाव है) का रास्ता वास्तव में पर्वतीय है। देवलधार को लाँघना होता है और उसके लिए लगभग १½ मील चढ़ना होता है। इधर तो रास्ता जङ्गल तथा गाँव में होता हुआ जाता है। इसी रास्ते पर पड़ता है इन पर्वतों का प्रसिद्ध गाँव छौनाबिलौरी जो एक पर्वतीय गीत में अमर हो चुका है।

एक विवाह के योग्य आयु वाली कन्या गाती है :—

'छौना बिलौरी जन दिया बौज्यू
लागला बिलौरी का घाम'

मुझे इस गाँव में मत देना, वहाँ की धूप मुझे लग जायगी और—

'हाथ की दांतुली हाथ में रौली,
लागला बिलौरी का घाम'

घास काटने को जाऊँगी तो धूप लग जायगी और मैं मर जाऊँगी। हाथ की दांतुली हाथ में रहेगी। इसी प्रकार से और पद भी हैं।

तीन वर्ष हुये तो मैं इसी रास्ते से पिण्डारी गिलेशियर देखने गया था। महीना तो तब सितम्बर का था। वह पुरातन स्मृतियाँ जागृत हो रही थीं। एक पिछली यात्रा के संगी के मिल जाने से और भी ऐसा हुआ।

देवलधार तो धार होने से ठण्डा है। वहाँ पहुँचते पहुँचते धुआँ सा लग गया था दूरवीन बेकार थी अन्यथा यहाँ से हिमाच्छादित शृङ्गों का रम्य दृश्य दीखा करता है। जरा सी बूँदें आई और हम इस टपटपाहट में जल्दी जल्दी नीचे ढुलकते गये। रास्ता फिसलने वाला था। ऐसे ही रास्ते में तो लट्ठी की कीमत नजर आती है। सचमुच वहाँ समा बन्ध रहा था। हरियाली अपनी शान में थी।

उस पर्वत के पाँवों में सरयू नदी बहती है। खूब गर्म है वहाँ और बड़े बड़े मैदान खेत हैं जैसे बिरले ही पर्वतों में देखने को मिलते हैं। यहीं पर एक प्रसिद्ध खेत मिलता है जो सासूबुआरी का खेत कहाता है। एक किम्बदन्ती ने उस खेत को प्रसिद्ध कर रक्खा है। उस खेत की निरानी करके ही खाने के हठ के कारण दोनों सास-बहु ने प्राण दे दिये और खाना खेत के मध्य में ही रक्खा रह गया। उसकी निरानी खत्म होने से पूर्व ही वे मर गईं। खेत के मध्य में जरा ऊँचा स्थान भी है। जहाँ किम्बदन्ती के अनुसार खाना रक्खा गया था।

———

बागेश्वर से आगे

(३)

सरयू के किनारे किनारे उसकी कलाबाजियों को देखते हुए और फिर विशाल धान से ढ़के भूभाग को लाँघ कर हम लोग साँझ को लगभग ५ बजे बागेश्वर पहुँचे। सरयू इन पर्वत निवासियों की गंगा है और बागेश्वर तीर्थ स्थल है। उत्तरायणी को पुण्योपार्जन के लिए पर्वतीय बहुत संख्या में यहाँ आते हैं। मेले में खूब ठेलमठेल रहती है। बागेश्वर की मंडी भी तो विशेष महत्व की है। जोहार और तिब्बत की मंडियों का माल यहाँ आता है। इन पहाड़ों में बड़ी जगह है बागेश्वर। बड़ा बाजार है, मन्दिर भी हैं और बस्ती ठीक सरयू के किनारे है। ऊँची दीवारें ही बस्ती को आप्लावित होने से रोकती हैं।

बागेश्वर का डाकबंगला विशाल है और उसी के अनुरूप ही घास से ढ़का हुआ कम्पाउण्ड भी है। उसी की दीवार के साथ नीचे सरयू अपनी कमनीय धारा को बहाती है। 'ऐसा लगता है सरयू का जल, मानो ताज़ी ताजी छनी हो' कपूरीलाल ने कहा। प्यारे! मुझे तो इसका अनुभव नहीं। मैं तो इसे कमेट घुला सा देखता हूँ ऐसा चर्चा करते करते ही हमने उस सस्पैशन पुल को पार किया और डाकबंगले की ओर बढ़े।

'आराम की जगह है और शान की भी' यही प्रतीत होता है आपाततः। बागेश्वर के केलों की स्मृति जो स्नेही सज्जन लाये थे आज भी है क्योंकि पेट को क्षुधा व्यथित कर रही थी और उस रात्रि की चाँदनी में कीर्त्तन। सभी तारें बिखर रहीं थीं। ढंग से साथ देने वाला ही कोई न था। अकेले ही चिल्लाना हो तो व्यक्ति अकेले ही बैठ कर क्यों न चिल्लाये। इसीलिए तो मैंने उस प्रकार का मिल बैठना बन्द कर दिया और रोज प्रातः थोड़ा थोड़ा आँखें मूँदकर ही कीर्त्तन करना आरम्भ कर दिया था। उसमें और ही मजा आता था। भाव की धारा में मैं बहा चला जाया करता था।

और मुझे याद है उसी रात्रि को नीचे सरयू पर धू धू एक चिता जल रही थी। उस अंधियारी में वह उजाला विचित्र था। चाँद तो छोटा था। उस उजाले को वह छिपा न सकता था। वहाँ दूर दूर के शव दाह संस्कार के लिए आते हैं। गंगा-मय्या सरयू के कारण।

उसी रात्रि को मैंने नरेन्द्र को उच्चारण सिखाने की कोशिश की थी। वह तो सुन नहीं सकते, बिल्कुल ही। अतः उच्चारण की गड़बड़ उनके लिए स्वाभाविक है। वह पाठ बहुत दिन न चल पाया क्योंकि और पाठ ही प्रतिदिन पढ़ना आवश्यक हो गया।

मैं बरामदे में सोया था। उषः काल होते होते ही वह जो शान्त सरयू थी, भीषण हो उठी। उसकी फुंकार भयंकर थी और उसका आकार भी। रात ही रात में बड़ी बाढ़ आई। सोते समय सोचा था गंगाजी में गोता लगायेंगे, अब तो उधर देखकर ऐसा सोचने से भी भय लगता था। स्नानागार में ही स्नान हुए

और प्रातः ही ५ बजे के कुछ बाद हम चल दिये। अगला पड़ाव कफकोट वहाँ से १४ मील होता है। रास्ता गंगा के किनारे किनारे है। गर्म घाटी है। ऊपर से धूप पड़ती है और नीचे से पाँव जला करते हैं। सामने के पहाड़ों पर तरह तरह के रंग-विरंगे पेड़ हैं, सुन्दर लगते हैं इसमें सन्देह नहीं परन्तु तभी तक जब तक कि रवि का आतप तपाने नहीं लगता। फिर तो भागने की या आँखें मूँदकर पड़ जाने की सूझती है।

जब धूप होती है तो टाँगें भी शिथिल होती हैं और तिस पर जब भूख भी होती है तो व्यक्ति अधमरा सा हो जाता है। नरेन्द्र की ठीक यही गति हुई। अभी तक उनको भोले का शौक बाकी था। सो उस दिन की धूप व भूख ने दूर कर दिया। कुलियों ने विशेष रूप से उनको दूध ढूँढ़ कर पिलाया और तब भी आप आ पाये दोपहर १ बजे जब कि हम लोग ११ बजे से पूर्व ही पहुँच चुके थे। नरेन्द्र के संयम की मैं प्रशंसा करता हूँ, हमारे बिना उन्होंने चाय भी न पी थी। हमने तो रास्ते की दुकान में गोले (नारियल) का भाव तय कर लिया था, इसी आशा में कि नरेन्द्र तो चाय पीयेंगे ही।

उस सारे रास्ते में सरयू साथ रहती है, परन्तु वह कलकल और गर्जना जो पहिले पहल अच्छी लगती है बाद को गर्मी के कारण नीरस रुदन सा ही प्रतीत होता है। पानी भी धूप में चमकता है और आँखों को खाता है। कहाँ वे कुल्लू से मनाली तक व्यास नदी के किनारे किनारे के २४ मील और कहाँ ये १४ मील। वह तो आज भी स्मरण करने पर आनन्द की हिलोर उठा देते हैं और यह रोमाँच।

आखिर कफकोट के डाक बंगले की शरण में जा ही पड़े।

चारपाइयों पर कुछ तो नींद आई लेकिन क्षुधा अपनी लीला दिखाने लगी।

आजकल विचित्र गति है बाजारों की। कहीं कहीं आटा चावल मिल जाता है और कहीं वह भी नहीं। भला कच्चा आटा चावल क्षुधा को खाक शान्त करेगा। मिश्री देखने को नहीं और कई जगह तो गोला भी नहीं। फलमूल का नाम तक नहीं। दूध दुर्लभ ही नहीं अलभ्य है, सर्वत्र चाय का एकच्छत्र साम्राज्य है। इसी कारण से तो क्षुधा देवी की व्याकुलता सहन किये ही बनती है और कुछ चारा जो नहीं। काम में लगने से क्षुधा भूल ही जाती है, इस लिए कलम उठाई और चन्दनसिंह (अपने एक मित्र) के लिए लिख डाला एक लम्बा चौड़ा पत्र। २ बजे के लग भग दाल चावल का हिसाब सम्पन्न हुआ। मसूर की दाल थी वो भी ऐसी गर्म चलाई में। वह भी तो रंगत दिखाती है।

हाँ! उसी दिन की तो घटना है। कफकोट से हम लोग २ मील की दूरी पर थे। कपूरीलाल मेरे साथ थे। सामने से तीन मातायें आ रही थीं। तीसरी की गोदी में एक नग्न बालक था माता की भी छाती खुली थी। वह ऐसे उसे ले जा रही थी मानों मूक भाषा में प्रगट कर रही हो 'यह मेरे कलेजे का टुकड़ा है, मेरा लाला है, मेरा सर्वस्व।' 'ओ मातृत्व! तेरे सामने मेरा मस्तक नत है और हृदय भी। क्या विशुद्ध प्रीति, कैसा त्याग और कितना अपनापन। इसी सूत्र से ही तो माँ बेटा एक होते हैं। इसी सूत्र के कारण ही तो माँ बालक में निवास करती है और बालक माँ में।' मेरे भाव जगे और मैंने अपने को उस वृहत् मातृ चेतना से मुक्त पाया और मैं माँ के कृपामय हस्त-स्पर्श को अपने पर अनुभव करने लगा। और इसी रास्ते में ही तो मैंने एक माता

को देखा था। वह युवती थी, गौरवर्ण और हाथ में दांतुली लिये कैसे मर्दानें पगों से दो पुरुषों के साथ चली जा रही थी। 'ऐसी ही मतायें वीरप्रसू होती हैं। ऐसी ही मातायें मातृत्व के कर्त्तव्य का पालन कर जगत् में बलिष्ठ तथा उच्च आत्माओं को प्रवेश कराती हैं। श्रद्धा से भाव से मेरा हृदय झुक गया था। माँ की झलक तो स्पष्ट वहाँ मिल ही रही थी।

पथभ्रष्ट

(४)

आज से तीन वष पूर्व की घटना है। हम लोग पिंडारी गिलेशियर देखने जा रहे थे। प्रायः सभी लोग अलग अलग चल रहे थे। मैं लोहार खेत वाली सड़क पकड़ने के बजाय श्यामाधुरा की सड़क पर पड़ गया था। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड किसी प्रकार के निशान सड़कों पर लगाना--मालूम होता है अपना अपमान समझता है। वहाँ पर धोखे की गुञ्जाइश थी। २ मील से अधिक चले जाने पर मुझे पता चला था कि मैं गलत रास्ते पर हूँ। एक भाई मुझे जंगल ही जंगल नदी पार करा सड़क पर ले आये थे। लगभग तीन मील का चक्कर तथा चढ़ाई अलग से रही होगी। अब आज हमें कफकोट से श्यामाधुरा ही तो जाना था। पुरानी स्मृति सजग थी और सचेत किये थी।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने श्यामाधुरा के लिए एक नई सड़क वनवाई है। पुराना रास्ता तो वर्षा में कतई चलने लायक नहीं रहता। टूट फूट बहुत हो जाती है। नये रास्ते से लगभग तीन मील का चक्कर होता है। नये रास्ते से ही जाना निश्चित हुआ। प्रातः ही कफकोट से चल दिये। लगभग ५½ बजे होंगे। हम तीन--कपूरी लाल, नरेन्द्र और मैं आगे आगे चल रहे थे। नये रास्ते की थोड़ी सी स्मृति थी। पिछली बार के देखने से, परन्तु बातों

में उधर नजर नहीं पड़ी और हम लोग आगे निकल आये। हर जगह रास्ता बनाने वाले भी नहीं होते। और कभी होने पर भी बात नहीं बनती। हमारी भी ऐसी ही गति हुई। एक मील निकल जाने पर सामने से आने वाले पथिकों ने ही बताया कि हम रास्ता छोड़ आये हैं। गोविन्दबल्लभ को भी ज्ञात हो गया था कि हम रास्ता छोड़ आये हैं अतः एक आदमी हमारे पीछे दौड़ाया गया। वह हमें लौटते में मिला। मैंने इस घटना को बिल्कुल सामान्य करके जाना, परन्तु नरेन्द्र का चित्त व्यथित हुआ, उनको परेशानी सी प्रतीत हो रही थी परन्तु आने वाली घटना का तो यह श्रीगणेश ही था।

रास्ता चलने में प्रत्येक साथी को स्वतन्त्रता होनी चाहिए, साथ अथवा अलग चलने की परन्तु जब किसी साथी की गति अतिमन्द हो जाय तो वह दूसरों के लिये सदैव अड़चन का कारण होता है। साथ तो साथ रहने से ही निभ पाता है। नरेन्द्र जी के बारे में यह बात अखरती थी, मुझे तो विशेषकर, और इसीलिए भी कि कहीं भूलगे तो इनको कठिनाई विशेष होगी, कानों के कारण।

लौट कर ठीक रास्ते पर आये। समय सुहावना हो रहा था। बादल थे और पिछली साँझ की वर्षा ने सभी कुछ हरा भरा तथा ठण्डा कर रक्खा था। रास्ता निरन्तर ऊपर ही ऊपर चढ़ता चला जा रहा था। जंगल थे चीढ़ के और कहीं कहीं बाँझ के भी। हरी हरी घास रास्ते को और भी भला बनाये थी। नीचे बहती हुई सरयू और तट के समीप बसे कफकोट का दृश्य भी बड़ा ही रम्य था। रास्ते में एक दूकान थी और एक दो गाँव भी।

धीरे धीरे आकाश साफ हुआ। बादलों के स्थान में सूर्य की प्रखर किरणें आने लगीं। पसीना शरीर पर झलकने लगा, तृषा भी और भूख भी। इसके साथ ही रास्ता तो ऊपर ही ऊपर चलता चला जा रहा था। एक नाले के समीप सड़क पर बैठ कर कुछ खाया और फिर चले। धूप चुभ रही थी। थोड़ी ही दूर पर परवत की धार पर बसा एक गाँव मिला— झुपड़ नाम था, पहली ही झोंपड़ी वाले को बुलाया। एक कुली हमारे साथ था और दाल चावल उसके पास थे खाने पीने का सामान वहीं पर करने की ठानी। एक पेड़ों के झुण्ड के समीप खुले में चूल्हा लगा और देखते देखते खिचड़ी उबलने लगी।

ठीक इसी समय उसी गाँव के दूसरे किनारे गोविन्दवल्लभ तथा अन्य साथी खाने पीने की युक्ति कर रहे थे। वे लोग हमसे आधा घंटा आगे थे। इस बात का पता हमें बाद में लगा। खिचड़ी पकते पकते बादल घिर आये और खाते खाते बूँदें पड़ने लगीं। बौछाड़ को साथ लिये ही हमने रास्ता तय करना शुरू कर दिया। एक रोगी को भी रास्ते में देखा, दवाई भिजवाने का आश्वासन देकर आगे बढ़े।

हमें बताया गया कि श्यामाधुरा वहाँ से ४ मील है। हमें सीधा चलते जाना होगा। वर्षा का वेग हमारे कदमों के साथ ही साथ उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। रास्ते पर गजब की फिसलन थी. मगर लट्ठियों का और बुद्धि का सहारा ले, बिना फिसले ही भीगते हुए (छातों के होने पर भी) हम लोग कदम बढ़ाते ही चले गये। रास्ता ठीक पर्वत की धार पर था बादलों में हम चल रहे थे। ऊँचाई ७ हजार फीट से अधिक रही होगी।

हम लगभग दो मील चले होंगे जब रास्ते की दुविधा आ पड़ी.

एक रास्ता सीधा जा रहा था वह चौड़ा और चलता प्रतीत होता था। एक सड़क नीचे को बड़ी ढाल लेकर बांई ओर उतर रही थी। उस झुपड़ वाले सज्जन की उक्ति का आश्रय लेकर हम लोग सीधे रास्ते पर चल दिये। इसकी देनदारी मुझ पर ही थी। वहाँ रास्ता बताने को तो कोई था ही नहीं। पीछे से आने वालों के लिए प्रतीक्षा करनी मुझे नहीं रुची।

इस समय वर्षा बड़े जोरों पर थी। चारों ओर बादल थे। १० फुट से अधिक दूरी पर स्पष्ट दीखता भी कुछ न था। सूर्य का कहीं पता न था। घोर जंगल में हम चढ़ते चले जा रहे थे। रास्ता घूमता जा रहा था धीरे धीरे परन्तु लगता ऐसे ही था कि हम सीधे ही जा रहे हैं। यह रास्ता भी पर्वत माला की धार पर जा रहा था। एकदम हमें मील का निशान मिला। उस पर लिखा था केवल २८। भान हुआ कि हम किसी ग़लत रास्ते पर हैं। कई प्रकार की तर्कनायें हुई, उस मील के अर्थ लगाने को और आगे बढ़कर देखने का ही निश्चय हुआ। वहाँ किसी मनुष्य का तो पता ही न था। चलते चलते यह रास्ता भी एकदम से बाईं ओर नीचे बड़ी तेजी से जाने लगा। बड़ी विचित परिस्थिति थी यह भी निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि हम सचमुच पथ भ्रष्ट ही हैं। कुतुबनुमा की सुई बता रही थी कि हम दक्षिण दिशा में जा रहे हैं। इसी से अनुमान होता था कि गड़बड़ है सूर्य दीख नहीं रहा था और आस पास बस्ती के भी लक्षण मौजूद न थे घोर निर्जन बाँझ का जंगल था। आखिर मुख मोड़े और लौट चले। लगभग आधा मील चलने पर एक भैंस वाले की आवाज सुनाई दी। बादलों में वह तो पहिले दीखता न था। (उसी ने ठीक रास्ते की सूचना दी) वह रास्ता जो हमने छोड़ा था वही

श्यामाधुरा का रास्ता था। जिस रास्ते पर हम पड़ गये थे वह तो था धर्म पर—वेरीनाग का रास्ता।

बड़ी जलन थी नरेन्द्र के मन में। मुझे कोस रहे थे वाणी से भी मन ही मन भी। मुझे तो यह सारी घटना मनोरंजक सी ही प्रतीत हो रही थी इस प्रकार की घटनाएँ मुझे सदैव प्रिय रही हैं। रास्ते को स्वयं छोड़कर अपने लिए रास्ता बना कर जंगल में से जाना मुझे अच्छा लगता था और अब भी लगता है। सड़क से मैं गाँव बटिया को अधिक पसन्द करता हूँ। एडवेंचर (साहस) की तो मैं खोज करता था। यहाँ बिन बुलाये ही मिल गई इससे अधिक आनन्दप्रद और क्या हो सकता था? और जब भी मैं इस प्रकार की परिस्थिति में होता हूँ तो शक्ति का नया प्रवाह मुझ में प्रवाहित हो जाता है। आज तक मैंने इस प्रकार की किसी घटना के लिए पश्चात्ताप नहीं किया। यह मेरा स्वभाव ही है। आखिर यदि हमें रात्रि उस घोर जंगल में ही व्यतीत करनी पड़ती तो क्या था? और नये अनुभव होते! और यदि जंगली जानवरों से त्रास होता? नहीं; उससे हम त्रस्त क्यों होने लगे? अभी प्राण देने का समय नहीं आया था और यदि चले जाते तो भी क्या? इस निर्भीकता के बिना, ऐसी निश्चिन्ता के बिना, व्यक्ति ऐसी घटनाओं का मजा नहीं ले सकता।

वह कुली जो हमारे साथ था, वह तो बिलकुल अनभिज्ञ था, इस रास्ते से। इसलिए बिलकुल बेकाम। ठीक रास्ते पर लुढ़कते हम चले गये। सूर्य भी अपनी किरणों को जल्दी जल्दी समेटने लगा। एक जगह रास्ता टूटा हुआ था। कीचड़ में लगभग फुट फुट भर टाँगें धस गई होंगी दो स्थानों पर तो। उसमें भी और ही मजा था। अन्धकार से काफी पहले हम श्यामाधुरा के डाक

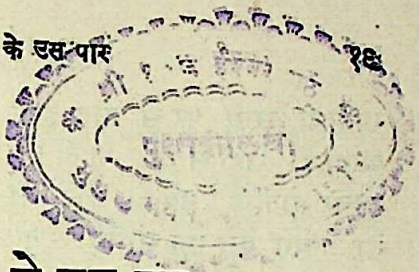
बंगले पर पहुँचे। मातायें तो पुराने छोटे रास्ते से ही आई थीं और इसी कारण दोपहर को ही पहुँच गई थी। गोविन्दवल्लभ भी कूद फाँद करते ४ बजे तक वहाँ आ गये थे।

परन्तु यह कहानी यहीं पर समाप्त नहीं होती। कारण कुलियों का कहीं निशान तक न था। वह डोटियाल भी हमारे जैसे थे रास्ते से अनभिज्ञ। उस रास्ते की दलदल को वो सहायता के बिना पार कर पायेंगे ऐसे अन्धेरे में, इसमें सन्देह था। लालटेन देकर आदमी भेजा गया। रात्रि के ६ बजे तक प्रतीक्षा की परन्तु उनका कहीं पता न था। विभिन्न कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाये जाने लगे।

प्रातः हुई परन्तु उनके दर्शन न हुए। ८, १०, ११, और १२ बजे तक भी वे लापता ही थे। लगभग १ बजे वे आ पहुँचे। उन्होंने भी हमारे ही चरणचिन्ह पकड़े थे और धर्मधर तक पहुँचे थे। एक बाबा जी भैरवनाथ भी भटके। वह दूसरी ओर कफकोट कि दिशा में। कुलियों से उनकी भेंट हुई थी परन्तु एक दूसरे को शान्ति पूर्वक समझने की चेष्टा नहीं की गई। (वह भैरवनाथ बाबा हमारी पार्टी में शामिल हो गये और कैलाश यात्रा में साथ रहे।) वह दिन रास्ता भूलने का ही था।

श्यामाधुरा में इस तरह एक दिन रुकना पड़ा।

———



रामगंगा के उस पार

(५)

अब हमें रामगंगा के उस पार जाना था। डिस्ट्रिक्टबोर्ड की सड़क वाला पुल बह चुका था। पहली जुलाई की वर्षा ने रामगङ्गा को इतना बढ़ाया था कि उसे तैरना असम्भव था। एक ही तरीका था। झूले के रास्ते जाँय। 'एक तार आर पार बाँधी हुई होती है। उस पर एक झूला लटकता है, जिसे रस्सों से आदमी आर पार खींचते हैं। उसीसे सामान जाता है, उसीसे आदमी बाँधे जाते हैं। 'हमारी भी यही गति होगी' क्या करें! लाचार थे।

अगले दिन प्रातः ही चले। बादल तो कमरों के भीतर भी आ रहे थे। थोड़ी ही दूरी पर सड़क छोड़ एक बटिया पकड़ी। जोंकों के दर्शन तो श्यामाधुरा के रास्ते में जब हम धर्मघर की सड़क पर पड़े थे, तभी हो गये थे। मेरा तो खून भी दो ने पीया था परन्तु अब तो बात ही कुछ और थी। ऐसा लगता था मानो जोंकों की वर्षा हुई हो। कदम कदम पर चिपकती थी और उतारते उतारते छेद कर डालती थीं दृष्टि सतत पाँवों पर रखनी अत्यावश्यक थी। छाते भी खुले थे, बूंदा बाँदी के कारण और फिसलने का भय भी पग पग पर था। इसे ही तो कहा जाता है सचेत होकर चलना। जङ्गल में से, खेतों में से, गाँव में से और

रपटोली धरती पर से होता हुआ रास्ता पहाड़ की धार पर आता है—जहाँ से नी बहती हुई रामगङ्गा की धवल धार दृष्टि गोचर होती है। तब तो छोटी सी लगती है। 'अजी! हम तो तैर जायेंगे' ऐसे मन सोचने लगता है।

यहाँ से बलखाती हुई बटिया सीधी नीचे ही उतरी चली जाती है। ढाल इतनी है कि पाँव प्रयत्न से ही टिक सकता है। तिस पर जोंकों के झुण्डों के झुण्ड; फिसलन और ऊपर से टपकन, बादलों और पेड़ों के पत्तों की। कई एक साथी रपटे परन्तु चोट किसी के न आई और हम लोग नीचे जा पहुँचे, गङ्गा के किनारे तिमुलबगढ़ नामक गांव में। वहीं पर खाने का आयोजन होना था। पार जाने में दो घण्टे लगने तो बहुत न थे। मैं तो सीधा झूले का तमाशा देखने गया। वह तमाशा ही। झूले वाले तो इतने दक्ष थे कि एक रिंग को कमर में डाल कर मकड़ी की तरह हाथ-पाँव के बल इस पार से उस पार दौड़ते थे। काम चलने लगा। मुसाफिर पार होते थे और उनके बोझे भी। गंगा तो अपने रंग में थी। तैर जाने का तो कोई प्रश्न ही न था।

तिमुलबगड़ में केले होते हैं। खिचड़ी बन गई और पार हो जाने की तैयारी हो गई। मातायें तो पहिले ही पार हो गई थीं, फिर बोझे और बोझे वाले कुली। एक डोटियाल का तो उस रास्ते में पांव फिसला ही। दो ट्रंक टूटे और उसकी टांग पर भी चोट आई। वे सभी उस पार कर दिये गए।

वास्तव में झूले से पार जाना बड़ा ही आनन्दप्रद है। हमने तो बंधने से इन्कार कर दिया था—गोविन्दवल्लभ और मैंने। किसी ने झूला झूला हो तो वह कुछ अनुमान कर सकता है। गङ्गा पर दृष्टि डालने से ऐसा लगता था कि हम तो गङ्गा के

के बहाव के प्रतिकूल बड़े वेग से चले जा रहे हैं। वे कुछ पल तो विचित्र अनुभूति के पल थे। पक्षी हवा में उड़ता हुआ कैसा अनुभव करता होगा। हम उस पार लगे तो मालूम हुआ जैसे पृथिवी पर आ गये हों। वह स्वप्न सी दुनियाँ समाप्त हो गई। भय की प्रतीति तो मुझे हुई ही नहीं।

अब हमें फिर सड़क को पकड़ना था। गंगा के किनारे किनारे बहुत दूर तक जाना कठिन है। कुछ लोग उधर से आते तो थे परन्तु खतरनाक था। कुली न जा सकते थे और ना ही मातायें। अतः ऊपर वाला रास्ता लिया। रामगंगा की घाटी में दोपहर की धूप में हमने चढ़ना आरम्भ किया और साथ ही साथ पसीना भी बहने लगा। इस तरह के बेढ़ब रास्ते मैंने कम ही देखे हैं फिर उतराई लगी तो उतरते उतरते घुटने ढीले होने लगे और उस तरह के पत्थर भी शायद ही किसी रास्ते में होंगे। मैंने तो वैसे पत्थर बनकोटे या शेलागाँव के अतिरिक्त कहीं नहीं देखे। आखिर उसको पार कर हम सड़क पर आ पहुँचे मानों किसी नदी के ही पार आ लगे हों।

हम लोग 'तेजम' के सामने पुल से ऊपर ही सड़क पर छाया में बैठ कर विश्राम लेने लगे और कुलियों की प्रतीक्षा करने लगे। 'तेजम' जाने का कोई प्रयोजन न था, व्यर्थ में २ मील का चक्कर पड़ता था और चढ़ाई उतराई भी। आगे ही बढ़ने की ठहरी। ३ मील की दूरी पर क्वेटी गाँव था। वही हमारा लक्ष्य था।

रास्ता मैदान था पर्वतों का आकार बदलता सा दीख रहा था। उनकी काया विशालतर थी और चट्टानें भी काली दीख रही थीं। हम एक नये पर्वत-भाग में प्रविष्ट हो रहे हैं, यह स्पष्ट था पास ही सामने पर्वत को प्रधानतः ढक रही थी। पेड़ तो प्रतिवाद

रूप ही थे। संध्या-समय ठंडक थी। यद्यपि थकावट थी, पर पाँव उठते ही जा रहे थे। बादल आये देखते ही देखते। बूंदाबाँदी आरम्भ हुई और थोड़े ही मिनटों में मूसलाधार वर्षा। रास्ता नदी बन गया। पर्वत से मिट्टी वाले पानी की मटमैली वेगवती धारायें बहने लगीं। सारी भूमि पलभर में जलमई हो गई। वर्षा का शोर भी विचित्र होता है। नीचे बहती हुई नदी की कलकल कई गुणा हो उठी ग्वालों ने अपनी अपनी गैया भी घर को लगा दी। यहीं पर तो हमें दो बालक मिले थे जो हमें देख कर चिल्लाते थे। वे गैया घर को ले जा रहे थे। उन्हें भय था कि हम तेज चलेंगे तो गैया भागेंगी और आगे जहाँ सड़क टूट रही है वहाँ गिर जायेंगी। बालक ही तो ठहरे। ऐसी वर्षा में छाते बेकाम से होते हैं। हम भीगे और भीगते-भीगते क्वेटी गाँव में आश्रय लिया। यही हमारा आज का रात्रि के लिए विश्रान्तिस्थल था।

वर्षा में व्यक्ति को कष्ट तो होता है परन्तु वर्षा का आनन्द भी तो और तरह से नहीं मिलता। घर में बैठ कर बरसता हुआ देखने में भी वह मजा नहीं जो वर्षा से पकड़े जाने पर है। हम उन आती हुई धाराओं के और उन धाराओं को ग्रहण करती हुई धारा के अतिनिकट होते हैं। पानी में से होकर चलना आवश्यक होता है और वह कितना शान्त कर देता है। वह तपाक से पड़ती हुई धारा एक गान सा गाती है और उसका स्वर भी पल-पल में बदलता है। मेंडक भी अपनी स्वर मिलाते हैं और झरने भी अपना राग छेड़ते हैं। पत्रों पर, पेड़ों पर और घास पर पड़ती हुई धारायें विभिन्न शब्द उत्पन्न करती हैं। प्रकृति का कोरस नूतन जीवन का संदेश वाहक होता है। पथिक सोचता है 'न बरसे तो अच्छा है।' प्रकृति पुकारती है बादल को 'तू आ, और मुझे

निहाल कर दे'। मूर्ख पथिक उस पुकार को, नूतन जीवन की माँग के प्रति, अपने क्षुद्र मोह के कारण बहरा हो जाता है, और बादल भला उसकी क्यों सुनने लगा ? वह देना जानता है। उसी में वह आनन्द भी मानता है।

उस मकान को भूकम्प ने दरारों वाला बना रक्खा था। वहीं पर रात कटी। कुछ खाया पीया और पड़ रहे। मेघ रात भर अपना काम करता रहा। सभी कुछ सील रहा था। हमने भी प्रातः जल्दी ही अपना रास्ता लिया (हम अपने गन्तव्य के प्रति बढ़ते चले जा रहे थे !)

———

गिरगाँव का कुली रोड

(६)

तेजम से मुन्स्यारी पहुंचने के लिए एक विशाल पर्वत लांघना पड़ता है। उसकी ऊँचाई ९ हजार फीट बताई जाती है। यह कालामुनी का पहाड़ है ५ मील की चढ़ाई है और चढ़ाई भी खूब खड़ी।

प्रातः का समय था। वर्षा बन्द हो गई थी। रास्ता नदी के किनारे किनारे जाता है ऊँचे ऊँचे पर्वत हैं और वेगवती ठण्डे पानी की धवल धारा येंप्रकृति का नूतन वैभव था इस प्रदेश में वृहत् पैमाने पर सभी क्रियायें होती प्रतीत होती थीं। कुछ मीलों तक रास्ता मैदान था। खेतों में से होकर जाता था और धान की रोपाई के दृश्य मनोरम थे।

उस नदी के पार जाते ही कांलामुनी की चढ़ाई आरम्भ होती है। बस ऊपर चढ़ते ही चले जाना होता है। उस ठण्डे समय में भी, बादलों के बीच चलने पर भी, पसीना चूने लगा था। रास्ते में स्थान स्थान पर पानी भी है। पत्थरों से लगभग सारा ही रास्ता पटा हुआ है; अतः फिसलन नहीं है। हम जैसे जैसे ऊपर जाते थे प्रकृति का दृश्य अधिकाधिक विस्तृत होता चला जा रहा था। दृष्टि और दूर तक जा सकती थी वह विशालता जिसकी ओर मैंने पहले निर्देश किया है अधिक स्फुट होती चली

जाती थी। वह जल की धवल धारें मानों पिघली हुई चाँदी ही सर्पवत् ढुलकती चली आ रही हो, हरियाली के बीच में नीचे नदी का गम्भीर गर्जन सभी मुझे मोहित किये लेते थे। तिस पर ऊपर जाने के साथ ही साथ एक विचित्र शान्ति की अनुभूति हो रही थी। वह शान्ति मेरे भीतर की ही शान्ति न थी वह तो वातावरण की निस्तब्धता थी, जिसको जल-धाराओं का कोलाहल भी भङ्ग नहीं कर पाता था अपितु वह उसे परिवर्धित ही करता प्रतीत होता था।

क्वेंटी से इधर एक मील पर एक वृहत् जलप्रपात था। खूब फैलकर पानी गिर रहा था। तुरन्त ही मुझ में दक्षिण के कूटलिम जलप्रपातों की स्मृति जागृत हो उठी। यहाँ पानी कम था पर पड़ता उसी प्रकार से था।

पानी में, वर्षा ऋतु में, कितना वेग प्रतीत होता है। वह चट्टानों को चूर्ण कर देता है और नदी की गर्जना पर्वतों को और भीरू हृदयों को भी कंपा देती है। वे शुभ्र वेगवती धारायें अपनी विशुद्धता तथा बल के कारण मुझे तो अतिप्रिय लगती हैं। मैं भय से कम्पित नहीं होता। मुझमें तो शक्तिमयी चेतना जागृत हो उठती है।

हम लोग जल्दी ही ६ के लगभग क्वेंटी पहुंचे। कुलीरोड ही हमारा विश्रामस्थल होना था और उसके दरवाजों पर ताले थे। वर्षा हो रही थी जब हम वहाँ पहुँचे। खेतों में काम करने वालों से चौकीदार का पता किया। ठीक पता न चला। एक औरत फुर्ती से आई। एक लड़के को खिड़की के भीतर भेजा, रोटियां और दही की ढेकी (लकड़ी का बर्तन) निकलवा कर लौट गई। हमने भी उसी रास्ते प्रवेश किया। और आराम से बैठ गये।

मैं अल्मोड़े की भाषा को समझता हूँ, परन्तु यहाँ उच्चारण इतना विभिन्न है कि उनकी बातें समझनी मुश्किल। थोड़ी देर में चौकीदार ने दरवाजे खोल दिये। कुली भी लगभग दो घण्टे बाद आ पहुँचे। भेड़ें बकरियाँ भी उसी शेड में कभी रह जाती हैं, ऐसा प्रतीत हुआ और टपकता तो वह कई स्थलों पर था। यह स्थान गिरगाँव काफी ऊँचाई पर है। बादल भीतर भी आ जाते हैं। दोपहर होते होते हम लोग उस घर में बस गये। आगे न जाने का ही निश्चय हुआ। माताओं ने तो रुकना पसन्द न किया। वे उसी शाम को मुन्स्यारी पहुँच गई।

हम लोग भली भाँति यहां पर टिक गये थे। वहाँ शान्ति का साम्राज्य था। उस स्थान की स्थिति ही ऐसी थी। गाँव दूर था। पास ही में कलकल करती जल की एक धारा बहती थी। साथ ही लगे धान के खेत थे जिनके हरियाली भरे तिनके तिनके से उभड़ता हुआ जीवन और नूतनता और दूरस्थ पर्वतों की विशालता उनकी घास की ओढ़नी कहीं कहीं देवदास से गहरे रंग के पेड़ों के झुण्ड और बीच में पानी की सफेद धारायें काली-काली चट्टानें सभी मन को मुग्ध किये दे रही थीं। बादल आते और जाते थे। सूर्य की किरणें भी मानो बादलों में स्नान करके आ रही हों वह कितनी कोमल थी कितनी प्रिय थी। वहाँ जाड़ा था परन्तु देश में गर्मी शायद लोगों को भून सी रही हो। कितना विशाल अन्तर।

उस प्रकृति सौन्दर्य को लखकर, उस शान्तस्थल में मेरी विचारमाला तो शंकर के चरणों की ओर प्रेरित हो उठी। 'शंकर तो वही चेतना है जिसने मुझे शरण दे रक्खी है, जिसने मुझे अपनाया है। वे ही तो मेरी माँ बन कर आज तक मेरी रक्षा

करते और पथ-प्रदर्शन करते रहे हैं। वे ही आज मुझे कैलाश को लिये जा रहे हैं। कैलाश उसी चेतना के प्रसार का केन्द्र है। मेरा मस्तक उन्हीं चरणों में नत हैं :—

"नमः शिवाय शान्ताय, आदिगुरवे, परमात्मने।
आशुतोषाय, मीदुषे।"

जैसे ही मैं सचेत हुआ एक पहाड़ी गीत की तान मेरे कानों में पड़ी। स्वर स्फुट थे ध्वनि भी परन्तु शब्द तो समझ न पड़ते थे। उस अवसर के कैसा अनुकूल था वह गाना। ऐसे लगता था कि एक युवती अपने जीवन के उल्लास में, इस प्रकृति की मनोरमता को देख आपे से बाहर हुई इन ध्वनियों में प्रवाहित हो रही है। कोकिल का अमराई में गान इतना सजीव तथा मधुर नहीं होता। वह धानों की रोपाई कर रही थी यहाँ तो रोपाई ही होती है और वह बड़ी दक्षता तथा सुन्दरता में की जाती है। धीरे धीरे वह गान अपनी झाँई में परिवर्तित हुआ और फिर वह झाँई भी लुप्त हो गई। निस्तब्धता और भी घनी हो उठी। कुली रोड के पास वाला झरना तो अपना कलकल गान निरन्तर गा ही रहा था।

परसों श्यामाधुरा आने में रास्ता भूलना कितनी महत्व वाली घटना लगती थी। आज वह अतीत के गर्भ में सुप्त है। आज गिरगाँव ही महत्व रखता है। घटनाओं को तो भूत अथवा भविष्य की पृष्ठ भूमिका में ही देखना चाहिए, अन्यथा व्यक्ति मानतोल में गड़बड़ कर देता है।

———

कालामुनि की चढ़ाई

(७)

अभी तो हमने चढ़ाई के दो ही मील लिये थे, तीन बाकी थे। अगले दिन सूर्योदय के साथ ही हमने कूच किया। चढ़ाई मजेदार थी, खड़ी होने के कारण भी और ऊँचाई के सबब ठंडा होने के कारण भी। शीतल जल के प्रवाह जगह जगह पर सड़क को लाँघ रहे थे। रास्ता यह भी पत्थरों से पटा हुआ है अतः फिसलन तथा कीचड़ नहीं है।

सूर्य की किरणों ने भूमि का स्पर्श ही किया था कि धुंआं उठने लगा और बादल बन बन कर व्याप्त होने लगे। कितने आकारों का वे निर्माण करते हैं और फिर उनका विध्वंस, यह बादलों के ताने बाने भी देखते ही बनते हैं। उन्हीं बादलों मे हम चलते चले जा रहे थे।

यदि बादलों से ढंके पेड़ों को कभी देखा हो तो वह दृश्य भूलेगा नहीं। पेड़ों की धुंधली सी काया दीखती है। ऐसा लगता हैं मानों स्वप्न जगत् के दृश्य हैं और पल पल में उस धुँए को गहराई बदलती है—वायु की लहरों से। सुरई का पेड़ देवदारू का सा दीखता है। वही जाति है उसकी भी। पर्वत शिखर के समीप वह कैसा अच्छा लगता है। एक फोटो लेने का यत्न किया गया था परन्तु केमरा तो सभी कुछ पकड़ नहीं पाता।

वह चित्र आज भी मेरे स्मृति पर तो अंकित है ही। केमरे में नहीं तो न सही।

कालामुनि की जोंकें तो भुलाये नहीं भूलती। यह पर्वत इनके लिए बदनाम है। हमें गिरगाँव से पहले ही सूचना मिल गई थी।

पहले दिन भी गिरगांव आने में कुछ साथी उनके शिकार हुये थे। वेसलीन से पाँवों को पोता गया। इससे जोंके पावों पर चढ़ने से तो न डरती थी परन्तु छेद न कर पाती थी। जब तक वे उचित स्थान ढूंड़ भी न पाती थी, पकड़ी जाती थी, परन्तु सारे रास्ते भर यह दौड़ ही रही। हम उन्हें उतार उतार फेंकते थे और ये चढ़ती चली जाती थीं। कहते हैं एक बाबा जी बड़े दयालु थे। उन्होंने जोंके उतार फेंकने से इन्कार किया। उनके वस्त्र न थे। फल स्वरूप जब तक वे उस प्रदेश में से निकल पाये, उनका सारा शरीर जोंकों से ढंक गया।

भैसों वाले उस कालामुनि के जंगल में रहते हैं। वहां घास खूब होती है इसीलिए उस चढ़ाई को पार कर दूध तथा छाछ का मिलना उचित स्वाभाविक ही था। मुन्स्यारी अभी दूर होती है। एक चढाई अभी बाकी थी।

नरेन्द्र के पाँव में कपड़े का जूता था। जोंके भीतर घुसीं और भरपट खून पिया। बड़े बड़े घाव भी कर दिये। बड़ी कठिनाई से खून बहना बन्द हो पाया।

आखिर चलते चलते दूसरी चढाई भी कट गई। जोंकों का साम्राज्य समाप्त हुआ। मुन्स्यारी तो नीचे में है ५ हजार से भी कम ऊंचा इलाका होगा। अतः उतरना होता है। मुन्स्यारी भोटियों का प्रदेश है। मुंस्यारी में प्रवेश करना एक नई दुनियां में प्रवेश

करना है। यह अल्मोड़े से ७५ मील है परन्तु विशेष महत्व का स्थान है। आज तक नाम ही सुना था, अब वह इलाका देखने को भी मिलेगा, इस उत्सुकता से कदम बढाते चले गये। "आधा संसार आधा मुंस्यार" यह भोटियों का कहना है।

पहाड़ में बहुत अधिक चढाई लोगों को खलती है परन्तु मेरे जैसे भी कुछ विरले हैं जिन्हें उतराई कहीं अधिक खलती है।

मुन्स्यारी की ऊंचाई इतनी अधिक नहीं जितना ठंडा है। कारण है वर्फानी इलाकों की समीपता। वहाँ वर्फ भी अधिक पड़ती है। वनस्पति तथा भूमि इस बात की द्योतक है। इतनी ऊंचाई पर अल्मोड़े के समीपस्थ प्रदेश ता और तरह के ही होते हैं।

चलते चलते ठीक दोपहर के समय ही हम डाकबंगले पर पहुँचे। डाकबंगला बहुत अच्छी जगह पर है। वहाँ के दृश्य सुन्दर है। मुंस्यारी एक गांव नहीं है। कई गाँव जिनके नाम अलग हैं इस इलाके में गिने जाते हैं, सभी मिला कर बड़ी बस्ती हो जाती है। उसने उस विशाल पर्वत के एक पक्ष को घेर रक्खा है। विखरी हुई खेती-और विखरे हुये गांव-अजीब-ताश के बिखरे पत्तों से लगते हैं। पांगर उस जलवायु की विशेषता है। मैंने इतने विशाल पांगर के पेड़ कहीं नहीं देखे। पांगर जङ्गली चेस्टनर होता है। खाने के काम नहीं आता।

सभ्यता से हम दूर चले जा रहे थे। भोटिये लोग बड़े पुरुषार्थी हैं इसमें संदेह नहीं, परन्तु अलग इतनी दूरी पर रहने के कारण उनकी विचित्रतायें कम नहीं। संगति के प्रभाव स्वरूप जो ब्राह्मण भी वहां बसे हैं उसी रंग में रंगे जा रहे हैं।

———

बर्फों की ओर

(८)

श्यामाधुरा में डोटियाल कुलियों ने इतना उतना बोझा उठाने से इन्कार किया था। उनके बोझे कम किये गये थे। मुंस्यारी में चलने से घण्टा भर पहले एक कुली आकर कहने लगा कि हमारे एक साथी को बखार आ रहा है, वह चल न सकेगा और हम लोग उसे छोड़ेंगे नहीं। स्पष्ट मतलब था 'हम लोग आगे नहीं जायेंगे। आप कोई प्रबन्ध कर लें' परन्तु कुली दूकानों पर तो कुछ बिकते ही नहीं। गाँव का मामला था। इतनी जल्दी में कुछ भी प्रबन्ध असम्भव था—और डोटियालों के कारण हम अपना प्रोग्राम भी तो गड़बड़ करना नहीं चाहते थे। उनको दवाई दी गई और उन लोगों को समझाया गया कि यदि ऐसी बात थी तो हमें पहले ही सूचित करना चाहिए था। आखिर उन्हें समझा-बुझा कर इस बात पर राजी कर लिया गया कि वे बिना बोझे ही हमारे साथ चलें। उनके बोझे का और प्रबन्ध होगा। यह सौभाग्य की बात थी क्योंकि डोटियालों के अक्ल प्रायः नहीं के बराबर रहती है। हमारे डोटियाल जरा समझदार थे। आखिर मुन्स्यारी से कूच हुवा।

आगे का रास्ता बहुत खराब था। हम लोग बस्ती को पीछे छोड़ कर उन प्रदेशों की ओर बढ़ रहे थे जहाँ की प्रधान-निवासिनी

वर्फ ही है। साल का अधिकांश भाग यह प्रदेश बर्फ से ढँका रहता और आवागमन के लिये अगम्य होता है। वर्षा ऋतु के कारण एक तो रास्ता स्थान स्थान से टूट रहा था और दूसरे उतार चढ़ाव भयङ्कर थे। खराब रास्ते का यही अभिप्राय था। हमें आगामी पड़ाव मुन्स्यारी से लगभग १३ मील की दूरी पार करना था। वहाँ कोई बस्ती न थी। वह स्थान तो घोर जंगल में है। वहाँ पर रुकना इसलिए अवश्य होता है कि आगे बस्ती मीलों दूर है और वह भी सड़क के समीप नहीं। वहाँ पर एक वृहत् शिला ने आश्रय को स्थान बना रक्खा है। उसमें वर्षा तथा आँधी से बचाव हो जाता है। ऐसा स्थान पर्वतीय भाषा में उडियार कहलाता है। उस पड़ाव का नाम बखुड़ियार है। कहते हैं उससे ऊपर के इलाके में बाघ नहीं होता। वहाँ तो होता ही है। बाघ उडियार का अपभ्रंश है बखुडियार।

मुंस्यारी से नीचे आते ही गोरी गंगा दिखाई देने लगती है। उसकी भयंकर गर्जना से ही उसकी गति तथा प्रमाण का अनुमान किया जा सकता है। वैसे तो दूर से छोटी ही दीखती है। यह गोरीगङ्गा आगामी ३० मील के लिए हमारी संगिनी है। मार्ग इसके किनारे किनारे ही जाता है। इसका घोष कानों में अनवरत पड़ता रहता है, रात को और दिन को भी।

खा पीकर चलते चलने सूर्य तो प्रखर हो ही आया था। कुछ दूर तो बस्ती लगती है, खेती पाती है परन्तु ज्यों ही यह सिलसिला समाप्त हुआ कि हम घोर जंगल में प्रवेश कर जाते हैं। आरम्भ में कहीं कहीं घास के मैदान भी हैं; परन्तु बाद में तो घने वृक्षों से पटी हुई भूमि है।

हम लोग लगभग ४ मील चल पाये होंगे। कपूरी लाल और

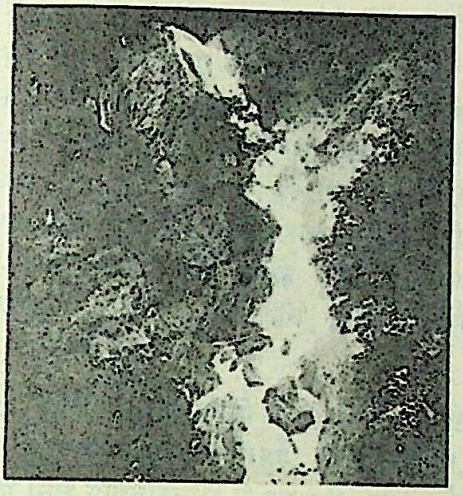
मैं आगे आगे जा रहे थे। मातायें तो बहुत आगे थीं। बाकी लोग पीछे थे। रास्ते में एक नदी पड़ती थी। सड़क नीचे नदी तक उतरती थी परन्तु वहाँ पुल न था। नदी वैसे पार करनी असम्भव थी मैं तो ऊपर लौटा—पार करने के ढंग को समझने के लिए। 'आखिर रास्ता चलता है, कुछ तो प्रबन्ध होगा ही' कपूरी लाल वहीं रुक गये। उस समय धूप से व्याकुल हो रहे थे। पास में छाया थी। मुझे पता लग गया कि नीचे की ओर अस्थायी पुल है। मैं तो उस पुल से पार होकर सड़क पर चढ़ गया और उधर से कपूरीलाल को आवाज लगाई। वहाँ तो नदी की गर्जना में इतनी दूर सुनाई पड़ना असम्भव था। इतने में बाकी पार्टी आ पहुँची। वे सामने ही थे। अतः दुर्गादत्त को कपूरीलाल को सूचित करने को कहा और वह ऊपर की ओर चला गया। वे दोनों नदी के किनारे किनारे ही पुल की ओर बढ़े चले जा रहे थे। एक चट्टान पर से कपूरी लाल का पाँव फिसला और पानी में आ रहे। हाथ में झोला, छड़ी और छाता था। अपनी रक्षा की माँग थी कि चट्टान को पकड़ा जाय झोला और छाता हाथ से छोड़ दिया। आप बच गये। देखते देखते झोला और छाता नदी के प्रवाह में बह चले। पुल पर जो लोग थे उनको इस घटना का पता ही न था। इनकी आवाज ही न सुनाई पड़ती थी। पकड़ता कौन और फिर कैसे? झट वे आँखों से ओझल हो गये। मुझे ऊपर ही इस घटना की सूचना मिली। कपूरीलाल ने भी कहा। उनका हृदय कुछ व्यथित सा था इसमें सन्देह नहीं परन्तु बाहर बनाई हुई वीरता ही प्रकट हो रही थी। लाचारी थी। खोज की गई कि कहीं पत्थरों के नीचे न अटक रहे हों। पर कहाँ? वहाँ जीता जागता आदमी भी होता तो अब तक कहीं का कहीं चला जाता—वे तो प्राणहीन छाता और

थैला ही थे। कपूरी लाल को अफसोस था और मुझे संतोष।

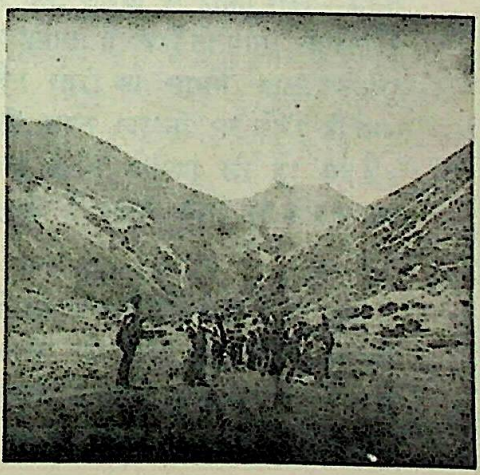
कपूरीलाल घर से एक मोटी कापी बनाकर लाये थे। उस पर वह डायरी लिखते थे। पर्वत में आने का इनका पहला ही अवसर था। अनुमान किया जा सकता है कि डायरी लिखना कितना परेशानी का कारण रहा होगा। रात को डायरी दिन में डायरी, चलने में डायरी और बठे में डायरी। कुछ देखना हो तो डायरी में और बात करनी हो तो डायरी के लिये। डायरी का जादू बुरी तरह इनके सिर पर सवार था। मैं प्रतीत कर रहा था कि यात्रा का आनन्द तो सारा इनका इस तरह मिट्टी हो जायगा। डायरी भर जायगी परन्तु भूसे से—चुने हुये अनुभवों से नहीं। मुझे तो उसके वह जाने पर सन्तोष था। इसमें सन्देह नहीं कि एक बहुमूल्यवती मेरी पुस्तक भी साथ में ही बह गई। परन्तु वे तो सोचते थे—'हाँ! इतना कुछ लिख रक्खा था। सोचा भी था कि पन्ने फाड़कर पोस्ट कर दूँ।' बहे हुए स्वेटर के बदले तो उन्हें दूसरा दे दिया गया। धीरे धीरे यह घटना उनके मन से उतर गई।

जैसे जैसे हम आगे बढ़ते थे—प्रकृति के वैचित्र्य, विशालता तथा अद्भुत सजीवता का परिचय मिलता था। आगे एक विशाल झरना हमे मिला मानों पर्वत की धार से एक नदी ही गोरीगंगा में कूद रही हो। वह श्वेत निर्मल जल वह वेग और गर्जना! नीचे तो गोरी का गम्भीर घोष था और ऊपर इस जल प्रपात का। उसकी फोटो हमारे पास है परन्तु उससे उसकी विशालता का अनुमान करना कठिन है।

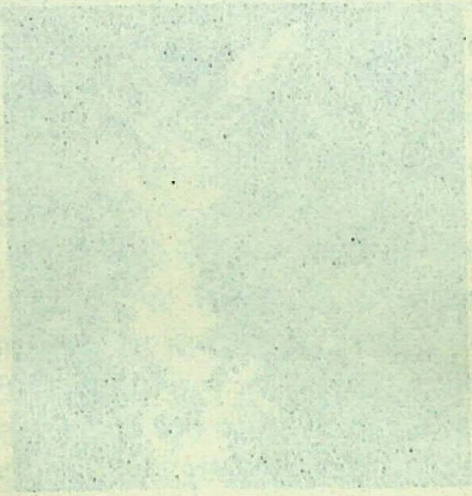
झरने तो रास्ते में अनेक थे। एक दूसरे स्थल पर पर्वत शिखर से पानी गिर रहा था। वह जलप्रपात की ऊँचाई, वे काली काली

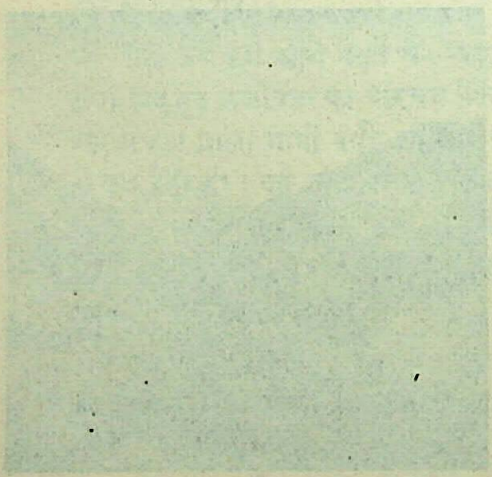


घुंस्यारी के आगे
वगउडीयार से
पूर्व एक विशाल
जल-प्रपात ।
(अध्याय ८)



बुर्फू से विदाई, नाच
गाने के साथ ।
(अध्याय१०)





चट्टानें जिन पर से पानी गिरता था। तीन बार वह कूद लेता हुआ, लौट पौट होता हुआ सड़क को लांघ कर गोरी के गौरव में लीन हो रहा था। वह पर्वत वृक्षों तथा घास से खूब सटा था। मन तो उछलता था उस गिरती हुई धार की जड़ पर जाने को। सीकर स्नान तो सड़क से ही होता है। गिरते हुए पानी पर दृष्टि लगाने से और उस नीचे सरकती हुई सीकर पर आँख जमाने से कैसा लगता है? उसके साथ ही व्यक्ति भी यात्रा करने लगता है। पल भर में समाधि होती है। मैं कहाँ हूँ? यह विस्मृत हो जाता है।

और, नीचे हमारी संगिनी गोरी गंगा चली जा रही थी, नीचे की ओर बेतहाशा दौड़ती हुई, कूदती-फांदती, फैलती और सिकुड़ती निज यौवनोल्लास में उछलती हुई। कई रूपों में हमने उसे देखा है—मैदान—स्थल में अपेक्षाकृत शान्त परन्तु विस्तीर्ण-काय, तंग स्थलों में गम्भीर और बहुत ही तुमुल। कहीं कहीं तो इतने बड़े जल प्रवाह हैं और उसी कारण से इतना शब्द—मानों बम फट रहे हों। जहाँ जल प्रपात हैं वहाँ तो पानी उछलता है और बादल सा बन जाता है। गोरी का सामने वाला किनारा भी खूब सुन्दर है। पत्थर की सख्त चट्टानों पर गोरी की वेग-वती धार ने ऐसी रगड़ाई की है कि पौलिश सी हो गई है। लतायें और पेड़ भी खूब झुके हैं मानों गोरी की वन्दना कर रहे हों।

गोरी आखिर गोरी क्यों कहलाती है? पानी तो गौरवर्ण है ही परन्तु काली नदी जो गब्यांग की ओर से आती है, वह भी तो गौरवर्ण है? जो व्यक्ति काली के साथ साथ दूर तक गये हैं वह जानते हैं कि काली धीरे धीरे काली होती जाती है। वफ़ानी

इलाके में जल के वेग के कारण और निर्मलता के कारण भी जल सफेद दीखता ही है।

गोरी की महती गर्जना तो मेरे अन्दर उल्लास पैदा करती थी। कितनी शक्ति है इस जल वेग में। गोरी यहाँ पर गगन-चुम्बी पर्वतों के बीच से बहती है। पर्वत तो मृदु तथा हरित घास से ढँके हैं, अथवा वनस्पतियों से परन्तु चोटियाँ नंगी हैं और नोकीली—आकाश की ओर इशारा करती हुई सी हैं। बर्फ चोटियों पर से मिट्टी बहा डालता है। नग्न चट्टानें ही रह जाती हैं। गोरी गंगा की गर्जना तो प्रतिध्वनित होती हुई समीपस्थ पर्वतों को भी गुंजा देती है। उस कम्पन से भी मिट्टी सरकती है। कभी कभी पत्थर गिरते हैं--ठीक सड़क में ही आकर गिरते होंगे! सिर को ऊँचा कर, मौन मुद्रा को साध उन बीहड़ स्थलों में शान्त रूप से बैठकर उन गगनचुम्बी चोटियों को एक टक देखते रहना, जब कि आकाश गोरी के गम्भीर गर्जना से परिपूरित हो, पर्वत भी उस ध्वनि को प्रतिध्वनित कर रहे हों, कितना आनन्दप्रद है! इन्द्रियाँ शिथिल तथा शान्त हो जाती हैं। मन संकल्प विकल्य शून्य स्वतः ही हो जाता है। मन से परे चैतन्य में शक्ति का भान होता है। गगनचुम्बी चोटियों के साथ चेतना भी ऊँचे स्तरों में उड़ने लगती है। ऊपर से पत्थर आवे तो भले ही आये। इस मजे को छोड़ते नहीं बनता।

ऐसे सुन्दर और सघन वन भी कहाँ होंगे? तराई भावर के जंगल बीहड़ हैं परन्तु इतना वैचित्र्य, इतना रङ्ग, इतनी सजीव नूतनता और इतनी जलमयी शीतलता मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखी। हाँ! पिण्डारी के रास्ते के दृश्यों की स्मृति जागृत हो आती है परन्तु यह स्थल तो उससे कहीं बढ़कर हैं। प्रकृति के गर्भ में क्या संभावनायें छिपी हैं--क्या रङ्ग--क्या ध्वनियाँ--

कितनी शीतलता और शक्ति छिपी है, इसका अनुमान कर लेना मानुषी मस्तिष्क से परे की बात है। जल कितना स्वच्छ और शीतल है, व्यक्ति पीने के लिए बार बार ललचाता है। उस मनोरमता की स्मृति आज भी कितनी प्रिय है।

वृक्षों से ढँके हुए रास्ते के समीप ही एक जलप्रपात था। सूर्य की किरणें चोरी चोरी से पत्तों में से होकर उस पर पड़ती थीं। मध्याह्न हो चुका था। उस जलप्रपात से उठने वाले सीकर में रवि ने एक इन्द्रधनुष--छोटा सा तान रक्खा था! उसकी अद्भुत लीला ही जो ठहरी।

परन्तु यह वैभव थोड़े ही दिन का है। नवम्बर का महीना आयेगा गोरी जम जायेगी। नीचे से जल की छोटी सी धारा बहेगी। जलप्रपात भी लुप्त हो जायेंगे। वर्फ घास को जला देगी। वनस्पतियाँ तथा रास्ता, चट्टानें और पर्वतों की तलेटियाँ सभी पर वर्फ का ऐकान्तिक साम्राज्य होगा। गोरी की गर्जना, कपड़े से ढँके ढोल की तरह, मन्द-मृदु संगीत का गान करेगी। सभी कुछ—पत्ते व फूल--मृत्यु की मीठी नींद सो जायेंगे और आने वाली वर्षा ऋतु के लिए बहुमूल्य खाद बनेंगे। पक्षी न होंगे और ना ही उनका कलरव, और देखने को मनुष्य भी यहाँ पहुंच न पायेंगे।

इस वैभव का वह दूसरा पक्ष होगा।

———

बर्फों के समीप

(६)

शाम होते होते हम लोग बखुड़ियार पहुँचे। धीरे धीरे सभी वहाँ आ पहुँचे। कोई जरा पहले और कोई बाद में। वहाँ मैदान सा है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने हाल ही में एक तीन कमरों वाला मकान बनवाया है। बँगला नहीं--उसका ठीक वर्णन कुलीरोड अथवा घुड़साल है। रात्रि हमें उसी में व्यतीत करनी थी। रास्ता भी इस बात की सूचना देता था कि इसमें रहने वाले कभी ही कोई होते हैं। नीचे ही वर्फ सा ठण्डा पानी बह रहा था। उसका रास्ता बिच्छूघास से पटा पड़ा था। मैंने पानी तक पहुँचने की कोशिश में कई जगह उसकी झलझलाहट मोल ले ली।

पहुँचते ही मैं उस उडियार को देखने के लिए गया। रास्ता बहुत गन्दा था। उडियार बड़ा तो था पर हर तरह से था सामान्य ही। कठिनाई से तो उसमें २०, २५ व्यक्ति रात काट सकते थे। मैं लौटा ही था कि बूँदाबाँदी आरम्भ हो गई। देखते ही देखते वर्षा होने लगी और उस 'बँगले' के चारों ओर कीचड़ और जल ही जल हो गया। वह 'बँगला' बना तो नया ही था परन्तु बेवकूफी से बनाया गया था। वह छाया हुआ था लेकिन भीतर भी बरसता प्रतीत होता था। और जगहों के अतिरिक्त वह ठीक केन्द्र में भी टपकता था। उसी में जैसे तैसे रात

काटनी थी और रात कटी भी। कमरे में ही बरसाती ओढ़कर पड़ने वाली बात तो तभी जान पाया। वहाँ ठण्डा खूब था। मेरे अनुमान से वह स्थान ८००० फीट की ऊँचाई से कम न था। आधी रात तक तो बरसता ही रहा। बाद में सम्भवतः बन्द हुआ। वर्षा में यदि दिक करता है तो कीचड़, सीलन और गंदगी उस रात बाहर निकलते ही पाँव कीचड़ में सनते थे और फिर वही पांव भीतर भी लाने ही पड़ते थे। कैसी हिचकिचाहट सी होती थी। पर करते क्या? सिर पर पांव रखकर तो कुछ चला ही नहीं जाता।

अगले दिन जल्दी जल्दी खाया पिया और चल दिये। अब रास्ता अधिक तेजी से चढ़ता है और उतनी ही तीव्रता से गोरी भी चट्टानों पर कूदती चली आती है। बीच बीच में छोटे छोटे मैदान से आते हैं, जहाँ पर ऊँचे नीचे जाने में भोटिये पड़ाव करते हैं। भेड़ बकरियों की भींगनों के जमाव इस बात के साक्षी हैं।

हम लोग थोड़ी ही दूर चल पाये थे जब वर्षा ने हमें घेर लिया और आई भी धारायें। छातों के बावजूद हम भीगने लगे। कपड़े समेटे हुये थे टांगें नङ्गी थीं। ठण्डी हवा जो धारों के साथ चल रही थी, शरीर को रोमांचित कर रही थी। पानी में चलना होता था। आध घंटे—पाव घंटे के बाद वर्षा बूँदाबांदी में बदल गई परन्तु इस बीच में ही स्थल जलमय हो गया था।

जैसे जैसे हम ऊपर चढ़ते जाते थे, वनस्पति कम हो रही थी। बड़े पेड़ बहुत कम होते जा रहे थे।

बखुड़ियार से ५ मील की दूरी पर एक उडियार है। वहाँ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हम और ही प्रदेश में प्रविष्ट हो रहे हैं।

वृक्ष तो बिल्कुल ही नहीं; पहाड़ों पर घास भी नहीं दीखती। पत्थरों की चट्टानें हैं और छोटे छोटे पत्थर। कहीं कहीं पर सख्त मिट्टी है। अजब, उजाड़ सा प्रतीत होने लगता है। पर्वतों के शिखर भी अब नोकीले नहीं, ढ़हे हुये से हैं। वर्फ की कृपा का यह फ़ल है।

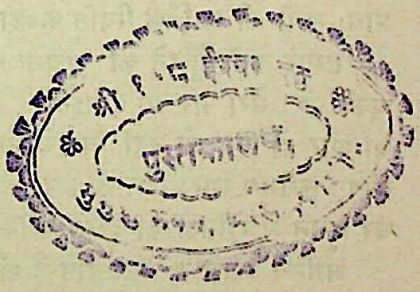
थोड़ी दूर आगे चलने पर पहाड़ के गहरों में और नदी के किनारे पर कहीं कहीं वर्फ की चट्टानें दीखने लगती हैं। रास्ते में भी वर्फ पड़ती है। वर्फ के ऊपर से जाना पड़ता है, नीचे से पानी बहता है, मानों बर्फ का पुल बना हो। बर्फ पर चलने में 'सोच समझ पग धरना' की याद आ जाती है। हमें तो एक जगह एक बर्फानी पानी का नाला पार करना पड़ा। यह भी एक अनुभव है। पानी वर्फ सा ही ठंडा होता है। साहस से—व्यक्ति-पांव पानी में धरता है और फिर दूसरी ओर निकलने की उतावली होती है। टांगें सुन्न हो जाती हैं, जलने सी लगती हैं। हमें वर्फ थोड़ी सी मिली।

जैसे जैसे हम बुर्फु के समीप पहुँचते हैं, वनस्पति विदा होती जाती है। कहीं कहीं थोड़ी घास है। रास्ते में एक गाँव सा भी था। वहाँ लोग एक बकरे को काटकर उस पर आपरेशन कर रहे थे। शायद वहाँ थोड़ा जौ पैदा होता होगा।

बर्फु हमारा आगामी पड़ाव था। मुन्स्यारी से २५ मील होता है। उसके लगभग २ मील पहुँचने पर तो ऐसे लगता था मानों व्यक्ति खण्डहरों में से चल रहा हो। पर्वत मिट्टी के हैं, उसमें पत्थर मिला है। जैसे मकान के खण्डहर हो जाने पर उसकी दीवारें रह जाती हैं—भग्नावशेष के रूप में, ठीक ऐसे ही वहाँ मिट्टी की दीवारें पहाड़ों पर दीखती थीं। हम लोग लगभग

१८००० फीट की ऊँचाई पर थे। कौन कह सकता है--वहाँ कितनी बर्फ पड़ती है। वायुमंडल में एक विचित्र निस्तब्धता थी, मृत्यु की सी नीरवता। गोरी नीचे बह रही थी, परन्तु उसमें भी वह स्फूर्ति न थी, वह जीवन न था। क्या पत्थर, क्या चटानें और क्या पशु पक्षी--सभी वहाँ अजब दीखते हैं। आँख धोखा खाने लगती है। दूरी का अन्दाज ही नहीं आता। सभी कुछ समीप ही समीप लगता है। चढ़ाई भी नहीं दिखाई पड़ती और न उतराई।

चलते चलते हम ४ बजे के लगभग वुर्फु के गांव में पहुँचे। वहां पर अपर प्राइमरी स्कूल में हमने विश्राम किया। यहीं पर हमको दो दिन और व्यतीत करने थे और आगामी यात्रा के लिए सभी प्रबन्ध करना था।



बुर्फु में मुकाम

(१०)

अल्मोड़े से ही बुर्फु गाँव का परिचय हमें मिल गया था वहाँ के कुछ सज्जनों से परिचय था। यहीं की एक माता ने तो कहा था—'बुड़फू में जरूर जाना।' हाँ' वहाँ भी लोग गाँव के नाम का यही उच्चारण करते हैं। ये लोग सभी भोटिये व्यापारी हैं। तिब्बत से ये लोग माल लाते हैं और तिब्बत को सामान ले जाते हैं। भेड़ें पालते हैं—ऊन कातते हैं और साल में एक बार नीचे जरा गर्म इलाकों में जाते हैं, जब यहाँ बर्फ पड़ती है। और एक बार तिब्बत जाते हैं, नीचे से लाये सामान के साथ। बस यही इनका जीवन है। इनके घर कुछ महीने रुकने के स्थान मात्र है। प्रायः सभी की आर्थिक स्थिति अच्छी समझी जाती है।

हमारे वहाँ पहुँचने की सूचना हमसे पहिले ही वहाँ पहुँच चुकी थी। मेरा परिचय दवाइयों के सिलसिले में वहाँ भेजा गया था और दो दिन जो वहाँ बिताये लोगों को दवाइयाँ बांटते ही बीते। लगभग सारा दिन ही इस काम में जाता था। या घर से घर घूमने में रोगियों को देखने के लिए।

भोटिये देखने में लाल होते हैं और उनकी औरतें भी परन्तु भोटिया औरतों में तो कोई बिरली ही स्वस्थ होगी। जो कुछ मैंने वहाँ देखा उससे मेरा तो यही अनुमान है। लाल रंग तो वहाँ

की ठण्डी हवा के कारण हो जाता है। नीचे से जाने वाले भी लाल हो आते हैं, तो फिर वहाँ के रहने वाले क्यों न हों ? मेरी समझ में तो उनके रोगों का प्रधान कारण है उनका ज्या का अतिशय प्रयोग। ज्या के तसले के तसले भर कर पीये जाते हैं और उसमें घी भी दिल खोल कर डाला जाता है। ज्या तो चाय ही होती है। बस अन्तर इतना है कि उसमें एक वृक्ष की छाल भी डाली जाती है, घी और नमक डाला जाता है और फेंट ली जाती है। चाय बनाने को पीतल के ही बरतन बरते जाते हैं। फलतः तूतिया बन जाता है। जो विष होने के कारण कई प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देता है। औरतों को खेतों में काम करना नहीं होता। दिन भर ऊन कातना या कपड़ा बिनना होता है।

बुर्फु में खूब जाड़ा था। लगभग ५ मील उधर से ही तेज हवा चलने लगती है। वह वर्फ का सन्देश लिये रहती है। मानों शरीर के आर पार हो जायेगी। वही हवा बुर्फु में और तेजी से चलने लगती है। बुर्फु बड़ा गाँव है। लगभग १०० घर होंगे। हर घर के सामने ही पत्थरों की दीवार से घेरा हुआ खेत है, जिसमें साग सब्जी पैदा की जाती है परन्तु इस वर्ष तो वर्षा के अभाव के कारण सभी वांझ थे।

भोटिये लोग सभी सामान वहाँ जमा कर लेते हैं। उनकी संग्रह शीलता पर आश्चर्य होता है अब हम भेड़ के देश में आ गये हैं यह भोटियों के घरों में जाने से पता चल जाता है। वहाँ भेड़ों के करवचों की दीवारें लगी रहती हैं और वे ऊन के ही बने होते हैं। भेड़ों और बकरियों का माँस उनके आँगनों में सूखा करता है और उसी की गन्ध उनके घरों के आती है। भेड़ों की मींगने जगह जगह पड़ी होती हैं। उनके बाल भी हर वस्तु में पाये जाने आरम्भ हो जाते हैं।

बुफु के पास ही लगभग तीन मील में बुर्फु गिलेशियर है। जिससे निकलने वाली नदी बुर्फु के पास ही बहती है। लगभग ८ मील में नन्दादेवी की चोटी दक्षिण की दिशा में है। मुझे बुर्फु का वह दृश्य आज भी याद है। रात के लगभग २ बजे थे। चान्दनी रात थी। एक ओर नन्दादेवी की चोटी चमचमा रही थी और दूसरी ओर बुर्फु गिलेशियर। सामने उत्तर की ओर दूसरी बर्फ से ढ़की चोटी भी चाँद की चट्टान सी चमकती थी। उस निस्तब्ध निशा में गोरी की गर्जन ही सुनाई पड़ रहा था। विचित्र जादू सा था उस दृश्य में, विचित्र शीतलता और शांति।

तैयारी के सिलसिले में खूब सटरपटर हुई। कइयों की राय ली गई और उनमें आपस में विभिन्नता भी मजे की थी। मोहन सिंह जांगपागी जी ने खूब दौड़ धूप की। गेहूँ, दलिया, आटा और न जाने क्या क्या तैय्यार हुआ। घोड़ों का प्रबन्ध हुआ, किराया ठहराया गया और प्रोग्राम बना। यह निश्चय हुआ कि तीर्थ पुरी होते हुए हम लोग कैलाश जायेंगे। और मानसरोवर से ज्ञानियाँ मण्डी। वहाँ से सीधे तकलाकोट। जो नकशे हमारे साथ थे, उनका खूब निरीक्षण हुआ। १६ जुलाई को हम लोग यथा संभव जल्दी ही प्रातः कूच कर देंगे, तिब्बत की ओर, मिलम से ऐसा सोच रक्खा था।

१७ को खा पीकर हम लोग मिलम को जाने वाले थे। वहाँ की प्रथा के अनुसार हमें बिदा किया गया। वहाँ के ढ़ोली लोग (कुछ शिल्पकार) अपना बाजा लेकर नाचते गाते हुये आगे चले। एक स्त्री नाचने वाली थी और गाँव के लोग गाँव के बाहर एक निशान तक हमें छोड़ने आये। हम लोग गांव वालों के अपने हो गये थे। जो गाँव वाले तिब्बत जाते हैं उनको ऐसे ही बिदा किया

जाता है। उस सब में शिष्टाचार था, हृदय न था स्पष्ट ही, और इसमें कोई विस्मय की बात भी नहीं।

हमने मिलम की सड़क पकड़ी और तीव्र वायु का सामना करते हुए कदम बढ़ाने लगे। मिलम ५ ही मील तो होता है। उस ऊँचाई पर आकाश में तरंगे सूक्ष्म चलती हैं। मस्तिष्क पर प्रभाव भी उनका निराला होता है। संकल्प विकल्प शान्त हो जाते हैं परन्तु यह सब नीचे से जाने वालों के लिए ही वहां वालों का तो स्वभाव ही वैसा हो जाता है। वहां पर सभी स्थलों पर एक विचित्र निर्जीवता प्रतीत होती है। गांव ठीक मध्याह्न में भी सोये से वीरान से दीखते हैं और प्रकृति तो श्मशान का रूप बनाये ही रहती है। पहाड़ बर्फ से चूर्णीकृत पत्थर मात्र है। और वहां पर विडम्बना होती है मजे की-सामने मिलम दिखाई पड़ता है। 'शायद एक मील होगा।' परन्तु चलते चलते पता चलता है कि वहाँ से ३ मील है।

———

मिलम से प्रस्थान

(११)

दोपहर को मिलम जा पहुँचे। स्कूल के पास ही नारायण स्वामी जी का तम्बू लगा था। जाकर उनसे भेंट की। वे तो कैलाश-यात्रा के अनुभवी थे। गतवर्ष ही वे होकर आये थे। अपनी समझ के अनुसार उन्होंने भी बातें बताईं। वे कई दिनों से हमारी प्रतीक्षा में थे। उस दिन वे मूर्त्तिमान् माधुर्य थे, उस मिश्री से भी मीठे जो उन्होंने हमें भेंट की।

स्कूल में डेरा किया गया। पानी की अजब परेशानी थी। नदी का ही पानी था और उसमें चाक सी घुली रहती थी। रखने पर जरा अच्छा हो जाता था, परन्तु आँख मूँदकर ही अच्छी तरह पिया जा सकता था।

मिलम बहुत बड़ा गाँव है। बुर्फु से ५ गुना होगा। यहाँ उतना ठण्डा न था जितना बुर्फु में—यद्यपि यह स्थान उससे अधिक ऊँचा है। कारण? हवा कम चलती है—पहाड़ की आड़ में होने से। पहले तो दिल उछलता था कि मिलम गिलेशियर को देखें परन्तु अन्त में यही निश्चय हुआ कि आगे बहुत बड़े गिलेशियर देखने को मिलेंगे ही, व्यर्थ को प्रयास में क्या रक्खा है? दूसरे दिन तम्बू तानकर अखण्ड जाप करने का निश्चय

हुआ। अखण्ड जाप हुआ। पूर्त्ति में नारायण स्वामी ने भी भाग लिया।

भोटिये लोग कई मिले परन्तु उनका हमसे कोई स्वार्थ सिद्ध न होता था, अतः बातें बहुत बनी, प्रयोजन कुछ न था। प्रबन्ध हमारा हो ही चुका था।

हम लोग सभी दूसरे दिन की प्रतीक्षा में थे। धुरों की कल्पनायें हमारे मस्तिष्कों में घूम रही थीं। यही तो अग्नि परीक्षा है जिससे यहाँ के निवासी भोटिये भी घबरा जाते हैं। सोचा था १० बजे तक घोड़े आ जायेंगे परन्तु प्रातः ही सूचना आई कि घोड़े कारणवशात् देरी से आवेंगे। हम खा पीकर बाँधा-बूंधी करके तैय्यार थे। दृष्टि और मन वुर्फु की सड़क पर थे। एक बजे घोड़े आये। सामान लदना आरम्भ हुआ। दो बजे हम लोग चलने को तैय्यार थे। वह १६ जुलाई का दिन था।

हमारे पास दो सवारी के घोड़े थे और ७ सामान के। ३ तम्बू लिये गये थे। गर्म कपड़ों को शरीर पर लादा गया। प्रभु का चिन्तन करते हुए मिलम से चले। वहाँ के २-३ वयोवृद्ध सज्जन हमें कुछ दूरी तक पहुँचाने आये। धूप खूब तेजी पर थी। वे लोग हमारे लिए मंगल कामनायें करते हुए लौटे। हम लोग आगे बढ़ने लगे, धुरों की ओर।

तीसरे दर्जे में मैंने हवा और सूर्य की कहानी पढ़ी थी। ठीक वही घटना आँखों के सामने घटने लगी। एक ओर तो हवा थी और दूसरी ओर दोपहर का सूर्य। उन ऊँचाइयों पर सूर्य की किरणें ठण्डी नहीं हो जातीं, अपितु मानों वे अधिक नोकीली हो जाती हैं। धूप खूब चुभती है और उस १२००० फीट की ऊँचाई पर भी पसीना आ जाता है। सूर्य ही की

विजय हुई--थोड़ी देरी के लिए। लादे हुए गर्म कपड़े उतारे जाने लगे। सिर का टोपा उतरा और स्वीटर भी उतरा। कोट वालों ने उन्हें उतार कर कन्धों पर धर लिया।

जिस प्रदेश में से हम चल रहे थे, वह तो पत्थर के पहाड़ हैं और पत्थर नीचे सरकते हैं, ज़रा से इशारे से। नीचे नदी बहती है। मैं 'उसे ऊँट की वेटी' कहता हूँ क्योंकि धुरे के इधर का सभी पानी उसी में तो आता है। पत्थरों पर धूप और भी व्याकुल करती है। रास्ते में एक स्थल पर वर्फ की चट्टान ने नदी के मार्ग को ढक रखा था। पानी नीचे से होकर आता था। वर्फ भी तो मिट्टी सी हो रही थी। गन्दी थी, साफ न थी।

एक के बाद दूसरा पड़ाव आने लगा। उनके नाम तो आज विस्मृति के गर्भ में लीन हुए जा रहे हैं परन्तु इतना कहना आवश्यक है कि पड़ाव तो पड़ाव के योग्य स्थान-मात्र हैं और वहाँ कुछ नहीं। नाम मात्र होता है। यदि कहीं तम्बू लगा हो तो भले ही हो। और वे पड़ाव मील मील और कभी इससे अधिक भी ऊपर नीचे फैले रहते हैं। भेड़ बकरियों वाले ऊपर नीचे कहीं बैठ जाते हैं। दो ही बातों से प्रायः पड़ाव बनता है, घास और पानी। कहीं कहीं तो घास भी नहीं होता।

हमारा विचार टुङ्ग में रात्रि व्यतीत करने का था। टुङ्ग, मिलम से ८ मील ही होता है। बहुत न था और चढ़ाई भी बहुत खड़ी न थी। उसके दो मील इधर शमगाँव का पड़ाव है। मेरे अनुमान से लगभग दो मील भूमि को यह नाम दिया जाता है। शमगाँव में घास है और वहाँ पर पड़ाव भी प्रायः मिट्टी के हैं। एक टूटी सी धर्मशाला भी बनी है।

हम शमगाँव से मील भर ही इधर होंगे जब द्वन्द्व युद्ध में वायु का पक्ष प्रबल हुआ। हवा चली और बादल उठने लगे। बस धुँआँ सा था और उसने देखते देखते आकाश को आच्छादित कर दिया। बूँदें गिरने लगीं। उस धूप को देख कर बहुत से साथियों ने अपने छाते घोड़ों पर रख दिये थे, अब उनकी आवश्यकता प्रतीत हो रही थी परन्तु घोड़े तो हम से लगभग मील भर पीछे थे। किसी ने अपना कम्बल ओढ़ा और किसी ने चादर। वर्षा तेज हो गई और हवा भी। हम लोग लगभग १३००० पर थे। ४½ बजे साँझ का समय होगा। शीत का ऐसा अनुभव आज तक न हुआ था; न बुफू में और न बुफू के रास्ते में। दस्तानों और जुराबों की उपयोगिता प्रतीत हुई।

मैं तो बर्फ की सोचने लगा कि अब बर्फ गिरता है और नूतन दृश्य मिलते हैं। दूसरा विचार जो मन में उठता था, वह आने वाले कल का था। क्या धुरों पर बर्फ पड़ जायेगी? यदि ऐसा होगा तो हम कल पार न जा सकेंगे। उन ऊँचाइयों पर कैसा होता है—इससे मैं परिचित था, परन्तु पूर्णरूपेण नहीं।

वर्षा में भीगते भीगते हम लोग शमगाँव पहुँचे। मातायें तो धर्म शाला में घुस गईं और हम ने अभी अभी लगाये जाने वाले एक भोटिये के तम्बू में आश्रय लिया। सोच रहे थे वर्षा बन्द होगी तो आगे चलेंगे।। अन्यथा यहीं रह जायेंगे।

वर्षा रुक सी गई। मैं बाहर निकला बादल विचित्र दृश्यों की रचना कर रहे थे। सामने एक चोटी को जो हिमाच्छादित थीं; घेरते चले जा रहे थे। केवल-मात्र शिखर ही उन बादलों के धुएँ में दीख रहा था। कैसा रम्य था वह दृश्य, परन्तु था वह क्षणिक

ही। केमरा उस ओर किया और एक्सपोज़र दिया। अब आकर पता चला कि वह निष्फल गया।

वर्षा रुक रही थी। हम लोग आगे चल दिये। थोड़ी ही दूर जाने पर वर्षा फिर आ गई। आगे ही जाना था लौटने का प्रश्न ही न था लगभग १ मील पर एक बर्फानी नाला सड़क को लांघता था। १५ फीट के लगभग चौड़ाई रही होगी। वेग भी था ही। ठण्डक वैसी ही थी और पानी तो तरल बर्फ ही समझिये। उसमें से निकलने मे टांगों की वह दशा हुई जो पहले न हुई थी। हम लोग १४००० के लगभग की ऊँचाई पर थे।

वर्षा ने और जोर पकड़ा तो एक टूटी हुई धर्मशाला में पुनः आश्रय ग्रहण किया। यह टुंग में ही थी परन्तु तम्बू लगाने को ठीक जगह आगे थी। फिर सरके और आगे पहुँचे। तम्बू लगे थे भोटियों के, भीगते भीगते हमने दो तम्बुओं में सिर छिपाया।

वहाँ से आधा मील नीचे नदी के ठीक किनारे पर एक विशाल उडियार भी है—ऐसा पता चला। उसने हमारी सारी पार्टी समा सकती थी। वहां डेरा करने में लाभ यह था कि प्रातः हम जल्दी ही जाने को तैयार हो सकते थे। तम्बू भी भीगने से बच जाते प्रातः बाँधने न पड़ते और गीली भूमि से भी हम लोग बच सकते थे। यहाँ मुझे बता देना चाहिए कि हमारी पार्टी में वृद्धि हुई थी। एक तो नारायण स्वामी जिनके बारे में मैं आगे ही लिख आया हूँ। दूसरे थे बाबा भैरवनाथ। ये बड़े उदार हृदय, तथा प्रसन्न चित व्यक्ति थे। थे ये कुष्ट से पीड़ित। तीसरे थे जीवन सिंह—बर्फू के भोटिया। वे हमारे पथप्रदर्शक तथा दो भाषिया थे। उनके बिना हमारा काम चलना असम्भव था। भैरवनाथ तथा जीवन सिंह की हमारे साथ खूब पटी। भैरवनाथ तो उमर

भर न भूलेंगे; निश्चित ही। घोड़े वाले तो थे ही, परन्तु केवल दो रात के साथी।

वर्षा बन्द होने का नाम न लेती थी। कभी कम और कभी अधिक पर रही अनवरत ही मध्य रात्रि तक, जब तक कि चाँद की मन्द छटा उस निर्जन में कहीं कहीं विच्छिन्न होते हुए बादलों के धुएँ में, और नीचे गरजती हुई नदी पर पड़ती हुई पत्थरों पर चट्टानों पर चमकती हुई एक विभिन्न लोक की कल्पना जागृत करती थी।

उडियार में भेड़ों की मींगने जमी थीं। परत छः इञ्च की तो अवश्य रही होगी और उनकी गन्ध का मापतोल तो कुछ है ही नहीं। कुछ सफाई की गई। मन को सन्तुष्ट करने अथवा भुलाने के लिए, दरी बिछाई और बिस्तर लगाये। खाना बनाने का दम माताओं में न था। भीग रही थीं और जाड़े से कड़कड़ा रही थीं। थोड़ा दलिया पकाया गया और साथ में कुछ और मसाला चला रात भर का सामान हो गया।

वह हमारी इस प्रकार की पहली रात्रि थी। यद्यपि हम तम्बू में न थे परन्तु मकान में भी न थे। थोड़ा सा कीर्तन हुआ, और फिर रामायण का पारायण हुआ। मासपारायण के हिसाब से एक दिन का पाठ पढ़ा गया। अधिकतर कपूरीलाल ने ही यह कार्य किया। मन्सूबे होने लगे कि एक पारायण तो पूरा होगा ही परन्तु कौन जानता था कि 'विधना ने कछु और रचि राखी' वही अन्तिम पारायण भी था। उस दिन सोने कों १०½ से ऊपर हो गया था।

मुझे तो सोते समय तक यह पता न था कि कल चलना होगा कि नहीं। वहीं पर उडियार में एक भोटिया भी था जो पार जाने

वाला था हमारा आदर्श वही था। वह चलेगा तो हम भी, वह रुकेगा तो हम भी। रात भर वह नदी ठन्डी हवा के झोंके भेजती रही, कम्बलों के भीतर तक वे घुसते थे और नींद को भुला देते थे। जल्दी जगने का तो प्रश्न ही न रहा था। सोने वाले जगते हैं, जगने वाले तो जगे ही रहते हैं।

धुरे पार करने के लिए जितनी जल्दी चला जाये, अच्छा होता है, किन्तु यह ज्ञान तो हमें अब प्राप्त हुआ, कीमत देने के बाद। घोड़े वाले अपनी जिम्मेदारी को कम समझते थे और हमारे पथप्रदर्शक अपने आप कुछ कर सकने के साहस से शून्य थे। अपनी स्वतन्त्र सूझ प्रायः उनके कुछ काम भी न आती थी और न हमारे ही। उनमें छोटेपन की घोर मनोग्रन्थि थी। अस्तु, चलते चलते हमें ७ बज गये और घोड़े वालों को आठ यह भारी भूल थी।

———

वह अलौकिक भूमि

(१२)

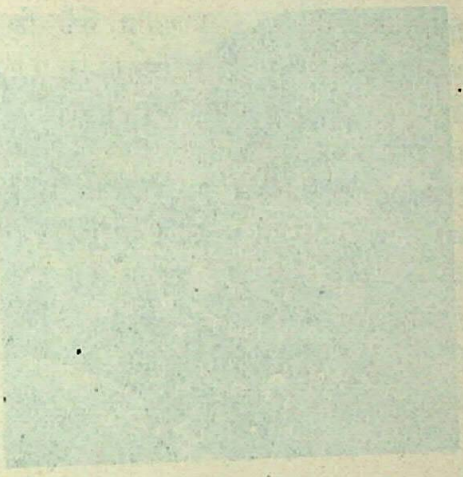
ऊँटाधुरा ! जयन्ती ! कूंगरी विगंरी ! ये शब्द रह रह कर मन में गूँज रहे थे। कितनी चढ़ाई होगी ? सुना था—विष लगता है, न जाने हमारी कैसी गति हो ऐसे संकल्प विकल्प बहुतों के मन में आ रहे थे और समय समय पर वाणी द्वारा भी प्रकट हो जाते थे। हम लोग तो बहुत ही सुस्त रहे। भेड़ों वाले तो चार बजे से चल रहे थे। एक दिन में ही तीनों धुरों को पार करना अच्छा होता है। बीच में पड़ाव हो तो सकता है, परन्तु वह सुरक्षित नहीं वर्फ का सदैव भय रहता है और पड़ जाने पर दुर्गति होनी अनिवार्य है। साथ ही लकड़ी लेकर चलना आवश्यक हो जाता है। एक ही दिन में तीन धुरे पार करना। कुल फासला लोग तो कहते हैं १५ मील होता है परन्तु मेरे अनुमान से तो १८ से कम न होगा। धुरों की ऊँचाई ? १८२०० फीट से सभी ऊँचे हैं। जयन्ती तो १८५०० है समुद्र तट से। सचमुच यह अग्नि परीक्षा थी। धुरे पार हो गये तो यात्रा की सफलता निश्चित है। इन धुरों में भूटियों और हूणियों (तिब्बत निवासी) की अनेक भेड़ें मर जाती हैं। इन्हीं धुरों में कई यात्री भी प्राण खो देते हैं। किसी प्रकार की सहायता की, सिर छिपाने के स्थान की कोई आशा नहीं। वर्फ पड़े, आँधी हो या तूफान

और किसी प्रकार का भी कष्ट हो सभी सहना होगा। कहते हैं--लोग इन धुरों में हृदयहीन हो जाते हैं। अपने बीमार, चलने के अयोग्य, साथियों को छोड़ कर चल देते हैं। ज्योंही बीमार ने आँखें मूँदी कि लम्बा हुआ। चीलें आँखें निकाल ले जाती हैं। वहाँ तो आप स्वयं पार जाना दूभर होता हैं, साथ ले जाना तो असम्भव ही समझें। सवारी ही एक मात्र आश्रय हो सकती है, वह भी यदि पहले से हो तो, अन्यथा साथ रक्खी हुई दवाई।

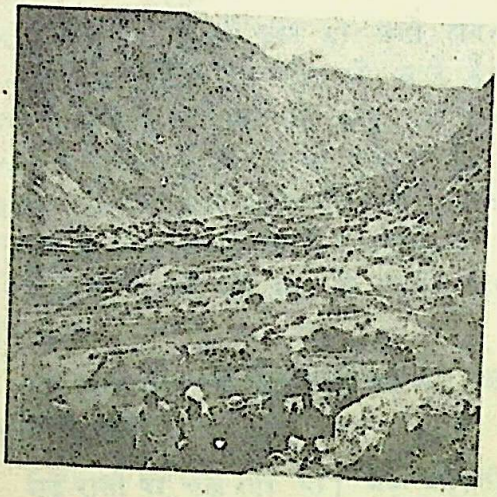
हम ऐसी परीक्षा के लिये आगे बढ़े थे। वह दिन आयु भर भूलने का नहीं।

भेड़ें रास्ते पर चल रही थीं। भेड़ बहकती भी जल्दी हैं। डरपोक जो होती है। इसलिये आगे बढ़ना मुश्किल होता है। कपूरीलाल तथा गोविन्दवल्लभ को सवारी के लिये छोड़कर हम लोगों ने पुल पार किया। 'ऊँटे की बेटी' को पीछे छोड़ हमने चढ़ना आरम्भ किया। अभी धुरा तो दूर था। दो चढ़ाइयाँ लेने के उपरान्त ही धुरे की निजी चढ़ाई आरम्भ होती है।

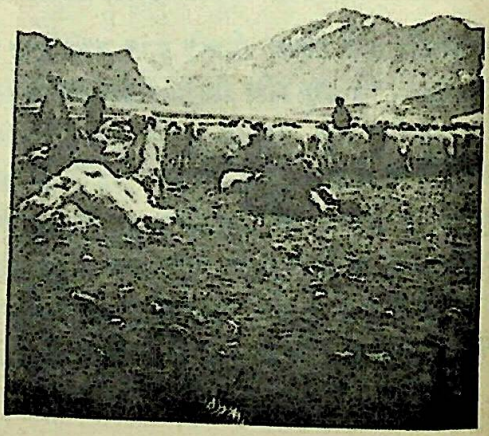
यहाँ से वर्फ के अलौकिक दृश्य दीखने लगते हैं। दक्षिण में चमचमाती हुई नन्दादेवी की चोटी दीखी और कुछ ही मिनटों में बादलों ने आँखों से ओझल कर दी। हमारा मुख पश्चिम की ओर था। सामने वर्फ से ढँकी चोटियाँ थीं। नीचे गिलेशियर था। पहिले तो दूरी के कारण यह सब छोटा सा लगता था परन्तु जैसे ही हम आगे आगे बढ़ते चले दृश्य विस्तृत होता चला गया और समीप पहुँचते पहुँचते वृहत् विशालता को धारण कर गया। बादलों के टुकड़े उठने लगे और वर्फों पर अपने आसन जमाने







सिक्किम से आगे घाटों की ओर। अध्याय (१६)



तिब्बत में ऊन का व्यवसाय। भेड़ों का मुंडन हो रहा है। (अध्याय १४)

लगे। नववधू के मुँह को जैसे घूँघट छिपाये रहता है। वैसे ही वह उस अस्पष्ट धवलता को छिपाते जा रहे थे। वह गिलेशियर भी अपने विस्तार का परिचय देने लगा। उस प्रातःकाल के समय मे--जब रवि का आतप अभी चोटियों पर चमचमा रहा था और इस पर्वत की ढाल पर जहाँ हम चल रहे थे, छाया ही थी, भेड़ों की कतारों की कतारें चल रही थी और बीच में थे भोटिये, सीटी देते उन्हें हाँकते चले जाते और सामने की ओर वे हिमाच्छादित चोटियाँ, बायें को पर्वत की सीधी खड़ी ऊँची दीवारें--बहुत ऊँची, और चट्टानें थीं मानों जैन मन्दिरों की चोटियाँ हों। पत्थर लालिमा लिये पीतवर्ण था। वह दृश्य कैसा मनोहर था। यहाँ पर केमरे ने अच्छा कार्य किया।

उन ऊँचाइयों पर नीचे, गहराई की ओर देखने में भय नहीं लगता। मेरा तो अपना यही अनुभव था। भेड़ें ही वहाँ रास्ता बनाती हैं पत्थरों के पहाड पर--पत्थर छोटे--सरकने वाले थे। छः इञ्च के रास्ते पर हम चल रहे थे। नीचे तेज ढाल थी--सेकड़ों फीट की, पत्थर सरक रहे थे परन्तु नीचे देखने में किञ्चिन् भी भय न लगता था। हमने लगभग १५,००० फीट की ऊँचाई पर पुल पार किया होगा।

वर्फ़ की चोटियों को बाँये हाथ छोड़कर हम इस ऊँचाई के बाद एक घाटी में उतरते हैं। दाईं ओर तो ऊंचे खड़े पहाड़ों की दीवार है। सभी स्थान पत्थरों और चटटानों से सटे हैं। बाईं ओर एक गिलेशियर है। जिसकी लम्बाई और चौड़ाई का ठीक अनुमान कर सकना असम्भव है। आँखें तो वहाँ धोखा देती है।

मील भर को फरलांग भर ही दिखाती है। और उसके पार जो दूसरी ओर के पहाड़ थे, उन पर वर्फ के विस्तृत प्रसार थे। पथों पर और चोटियों पर भी। और उन पर बाल-रवि की किरणें सभी चाँदी से भी चमकीली और सफेद दीखते थे।

बहुत ही मुश्किल आ पड़ने पर इसी गिलेशियर के किनारे पड़ाव भी किया जाता है। इस वर्ष जानवरों का बहुत नुकसान हुआ। न जाने हमने रास्ते में कितनी मरी हुई भेड़ों के अस्थि-पञ्जर देखे होंगे। वहाँ इतनी दुर्गन्धि पैदा नहीं होती। पत्थर ही सारी भूमि को ढँके हुए थे वहां पर, और दूर से देखने पर वह भी बहुत सुन्दर लगते हैं। अजब बात थी।

इस घाटी के दूसरे किनारे पर एक चढ़ाई लगती है। अभी तक मातायें हमारे आगे थीं। किसी को कोई कष्ट न था। अब हम सभी ने इकट्ठे ही इस चढ़ाई को चढ़ना शुरू किया। हम एक पंकवाहिनी नदी के किनारे आ पहुँचे। सचमुच पानी कीचड़ था। नदी ऐसे क्षेत्र में से बहती थी जिसकी मिट्टी काली थी और ढीली। यहाँ पर एक पुल था, पत्थर का इसे पार कर ऊँटा की ओर जाना होता है। यहीं पर विश्राम करने और पीछे वालों के लिये प्रतीक्षा करने की ठहरी।

उस चढ़ाई को चढ़ते ही मुझ पर एक विचित्र मस्ती का आवेग छा गया। गला खुला और मैं गाने लगा कीर्तन के पद, वहाँ उस ऊँचाई पर, उस विशुद्ध सूक्ष्म वातावरण में, उन विचित्र चमचमाते हुए वर्फों के दृश्यों में न जाने क्या जादू भरा था। भीतर एक विचित्र लहर दौड़ रही थी। हृदय गुनगुनाता था और हृदय आपे से बाहर होता जाता था। आवाज उस वायु-

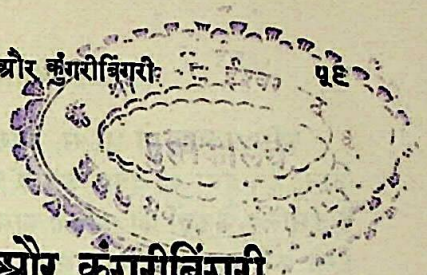
मण्डल में गूँजती थी और अधिक जोर से चिल्लाने को मन होता था।

उनको बैठा छोड़कर मैं उसी चढ़ाई की धार पर उनकी आँखों से दूर पर्वत की दीवार के चरणों की ओर बढ़ता गया। यह स्थान ऊँचा था, यहाँ से सारी घाटी का दृश्य अपनी वैभव-पूर्ण विशालता में आँखों के सामने आता था। पश्चिमी ओर की हिमाच्छादित चोटियाँ और उनके चरणों में लोटते हुए गिलेशियर, बादलों से आँख मिचौनी खेलते हुये दीखते थे। इस घाटी का गिलेशियर भी अपनी पूर्ण काया को खोले हुए दीख रहा था। सामने की वर्फों और चोटियों के दृश्य भी पग पग पर और पल पल में नूतन आभा वाले होते जा रहे थे। इधर भी बादल के टुकड़े उठने लग गये थे। वैसे तो सूर्य चमक रहा था। १७००० फीट की ऊँचाई रही होंगी। कितना पवित्र तथा निस्तब्ध था वायुमण्डल और कितना अलौकिक वह दृश्य। और सामने की मन्दिराकार लाल शिखरों को भी तो दिखा रही थी। यदि ऐसे समय में कोई मत्त हो जाये, अपने को भूलकर पागल की तरह चिल्लाने लगे तो क्या विस्मय। मैंने एक दाक्षिणात्य सज्जन को पागलपन की मस्ती में भावभरे गीत, भाव से कम्पित होकर, गाते हुए, नहीं-नहीं--चिल्लाते हुये देखा है। मेरी भी वैसी ही गति थी, मैं चिल्लाता था और अपने पूरे जोर से, सारा शरीर मानो रोम रोम नृत्य कर रहा था। पर्वत की दीवार से प्रतिध्वनि होती थी। मैं उसके प्रति चिल्लाता था, उन हिमाच्छादित चोटियों के प्रति चिल्लाता था। उस अद्भुत लीला में लीलामय राम ही तो अनुस्यूत हो रहा था। आज

मैं जानता हूँ--पागलपन कैसा होता है और पागल कैसा अनुभव करता है।

गला बैठा और वह आवेग शान्त हुआ। शरीर भी शिथिल हो गया। मैं बाकी लोगों के समीप आ गया। आगे बढ़ने का निश्चय हुआ।

मस्ती कम थी परन्तु थोड़ा खुमार सा बाकी था। हम आगे बढ़े।



ऊँटा, जयन्ती और कुंगरीबिंगरी

(१३)

मील भर से अधिक रास्ता मैदान था। चढ़ाई आरम्भ होने से ठीक पूर्व एक छोटी सी पहाड़ी नदी मिली। यहीं पर कुछ खा पीकर धुरों से लोहा लेने का निश्चय हुआ। थोड़ी देर में घोड़ों वाले सवार भी आ पहुँचे। मेवा पास में था, वह खाया गया। पानी पिया और सभी साथ साथ चढ़ाई चढ़ने लगे।

हमारे साथ जो छः मातायें थीं उनकी लीडर थीं हरुली, जिन्हें हम दीदी कहा करते हैं। वे पहिले ३ बार कैलाश यात्रा कर चुकी थीं। उन्हीं की दूसरी साथिन थीं तुलसा। अन्य चारों के नाम थे--खष्टी, पार्वती, मालती और तुलसा। इन दूसरी तुलसा को 'गाँगुली की माँ' कहकर पुकारा जाता है। सभी की आयु ४० तथा ५० के बीच में रही होगी। पार्वती तथा मालती ही ऐसी थीं जिन्होंने कैलाश-यात्रा न कर रक्खी थी।

नरेन्द्र में शिथिलता आ रही थी और कपूरीलाल का मस्तक पिड़ा रहा था। दोनों ही घोड़ों पर सवार कर दिये गये। दीदी प्रातः से ही शिथिलता की शिकायत कर रही थीं। दुर्गादत्त भी मस्तक पकड़ कर जगह जगह बैठता था। स्वामी जी अच्छे थे और गोविन्दवल्लभ भी। सभी लोग साथ साथ चल रहे थे। धुरों में यह अनिवार्य सा हो जाता है।

साँस फूलना तो धुरे से उधर वाली चढ़ाई में ही शुरू हो जाता है। हवा का दबाव इन ऊँचाइयों पर विशेष कम हो जाता है इसलिए फेफड़ों को अधिक काम करना आवश्यक होता है। इसी कम हुए दबाव का प्रभाव, रक्तवाहिनी नाड़ियों तथा हृदय पर भी पड़ता है। फलतः सिर चकराता है। और पीड़ा भी होने लगती है। इसी के फलस्वरूप जी मिचलाने की भी शिकायत कइयों को होती है और टाँगें भी फूलती हैं।

इतनी ऊँचाई पर एक एक कदम उठाना मुश्किल हो जाता है। और विशेषकर जब तबियत बिगड़ने लगे। (सभी को तो उतनी शिकायत नहीं होती। कई तो बिल्कुल ही प्रतीत नहीं करते; केवल साँस का फूलना अनुभव में आता है)। यहाँ तो इस परिवार में से कई ढीले होने आरम्भ हो गये थे। जहाँ से धुरा दिखाई देता है वहाँ से माताओं में से विशेष कर पार्वती को कष्ट होने लगा, परन्तु फिर भी लड़खड़ाते हुए सभी आगे बढ़ने लगे। प्रोत्साहित करने का काम मेरा ही था। कभी कभी मुझे भय भी दिखाना पड़ता था। इस सब पर भी मजाक यह कि धुरा सामने ही दीखता है। बस, २-३, फरलाँग होगा परन्तु जितना आगे बढ़े, उतना ही और दूर दिखाई देने लगता है।

आखिर धुरे पर पहुँच ही गये और वहाँ थोड़ा विश्राम किया। सिवाय स्वामी जी के और घुड़ सवारों के बाकी सब साथ थे। यहाँ से नीचे तेज उतराई लगती है। हम लोग तेजी से उतरते चले गये। रास्ते में बर्फ भी थी। यह एक दूसरी घाटी थी। नीचे गहरे में पानी के तालाब चमक रहे थे और पहाड़ों की छातियों पर हिम। पानी के नाम से काला कीचड़ बह रहा था। हम लोग लगभग १००० फीट नीचे उतर आये होंगे। बस

इतना ही हमें उतरना था। यहाँ से फिर दूसरे धुरे के लिए चढ़ाई आरम्भ होती है। यहाँ पर हम रुके। बैठते ही 'गाँगुली की माता' लेटी और अकड़ गईं। आँखों से आँसू बहने लगे और हाथ पाँव ठण्डे हुए जा रहे थे। मातायें परेशान हो गईं। मालती की आँखों में आँसू भर आये और उसके जीवन से निराशा हो गई।

नौशादर तथा चूना सुँघाया परन्तु चेतना न आई। नाड़ी मन्द हुई जा रही थी। इतने में नरेन्द्र भी आ पहुँचे। वह चन्द्रोदय और ब्रांडी निकालने लगे परन्तु गले से नीचे उतरे तो कुछ बने भी। यहाँ गहरी बेहोशी थी। जब स्पिरिट अमोनिया सुँघाने से भी कुछ न हुआ तो मैंने मुँह में अमोनिया वाली बोतल उलटी। उसके थोड़ा ही भीतर जाते, चेतना लौटी फिर ब्रांडी और चन्द्रोदय दिये गये। इससे पूर्व पानी की आवश्यकता पड़ने पर हमने बर्फी कीचड़ उसके मुँह में डाला था। कोई चारा जो न था। इस सारी घटना ने १५ मिनट ले लिये होंगे।

पानी वहाँ से लगभग २०० कदम की दूरी पर चढ़ाई में था। वहाँ पर कुछ खाने पीने का तय किया था। रोगिणी को घोड़े पर लाद कर बाँह पकड़ कर वहाँ तक पहुँचाया गया। उस स्थान को गंग पानी कहते हैं। इस घटना का मानसिक प्रभाव भी प्रायः सभी पर पड़ा। सभी लोग वहाँ जाकर चित हो गये। स्फूर्ति थी तो गोविन्द वल्लभ में, मुझमें और थोड़ी स्वामी जी में। कहते हैं धुरों में खटाई अच्छी होती है। इसलिए नींबू का आचार काफी मात्रा में सभी को खिलाया गया। हम लोगों ने तो कुछ अल्पहार किया भी परन्तु और किसी को रुचि न थी। लेटना चाहते थे और हो सके तो वहीं पड़े रहना। परन्तु इससे काम कैसे चल

सकता था। यहीं पर हमें एक बज चुका था। अभी दो धुरे बाकी थे। सभी को हाँक दिया गया।

जयन्ती तीनों में सबसे ऊंचा है अतः अपने नाम को सार्थक करता है। इसकी ऊँचाई १८५०० फीट आंकी गई है परन्तु चढ़ाई खड़ी नहीं। चलते ही स्वामी जी की तबियत खराब हुई। वमन हुआ और अंग शिथिल पड़ गये। कर्पूर रस का प्रयोग किया। मितली तथा सिर घुमार की शिकायत प्रायः सबको थी। गांगुली की माँ और कर्पूरीलाल घोड़े पर थे। जैसे कोई बहुत शराब पीकर लड़खड़ाता है—बाकी सब इसी तरह लड़खड़ाते चले जा रहे थे। समय समय पर मैं अमोनिया सुंघाता, कर्पूर रस खिलाता, प्रोत्साहन देता, हांकता सा चला जा रहा था। बार बार बैठने की प्रवृत्ति होती थी लोगों की और उससे चलना और भी कठिन हो जाता है। प्रायः सभी अधमरे से हो रहे थे। किसी तरह से जयन्ती पार हो गया परन्तु स्वामी जी दूर पीछे रह गये थे, देखने में भी न आते थे।

जयन्ती के बाद रास्ता बड़ी तेजी से दूर तक उतरता ही चला जाता है। कुछ देर आराम करके हम लोग आगे बढ़े। मैं नीचे आकर स्वामी जी की प्रतीक्षा में रुक गया। बहुत प्रतीक्षा के उपरान्त भी जब वह न आये तो मैं आगे चला। जीवन सिंह को उनके लिये रुकने का आदेश किया।

स्वामी जी तो उस दिन आ ही न पाये। नजगांव में भोटियों के अतिथि बने।

रास्ता थोड़ी दूरी तक मैदान है। बर्फ भी लांघनी पड़ती है। फिर लगती है कुगरीबिंगरी की खड़ी चढ़ाई। गोविन्द वल्लभ

कमर पर हाथ रखे, लाठी के सहारे आगे चले जा रहे थे। प्रायः सभी की अवस्था दयनीय थी। पार्वती तो बिलकुल ही निष्प्राण हुई जा रही थी। एक घोड़ा भी बेकाम हो गया था। वह थक गया और उसे अपना आप भी ले जाना दूभर हो गया। संध्या होने को थी। जब हमने चढ़ाई आरम्भ की, ५½ बजे होंगे। धुरों को ४ बजे तक पार कर लेना ही सुरक्षित होता है। अन्यथा तूफान, वर्षा और बर्फ का भय रहता है। पार्वती को बांह पकड़ कर ले जाना आवश्यक हो गया। बाकी भी गिर पड़ रहे थे। बाबा भैरव नाथ भी वैसे ही थे। बादलों का धुंआ लगना आरम्भ हुआ और ठण्डी हवा! उस चढ़ाई में भी हाथ पांव जमने लगे। उस समय की याद कर अब भी विस्मय होता है कि हम लोग कैसे पार हो गये। बादलों से अधिक कुछ भी न हुआ। अन्यथा शायद ही कोई बिरला पड़ती हुई बर्फ में उसे पार कर पाता। ६½ पर हम लोग ऊपर पहुँच गये। बादल थे—सूर्य दीखता न था और अन्धकार बढ़ रहा था। हमें अभी लोगों को गणना के अनुसार, तीन मील जाना बाकी था जो वास्तव में ५ से कम न था, परन्तु थी उतराई। इतनी शिथिलता में तो पाँव उठाना भी मुश्किल होता है। कुंगरीविंगरी की टेढ़ी मेढ़ी चढ़ाई ने बची हुई शक्ति का भी अपहरण कर लिया था।

रास्ता बेढ़ब था। मिट्टी सरकती थी। हम लोग ३ मील आये होंगे कि अन्धकार हो गया। गति मन्द थी ही। सभी को साथ लेकर चलना जरूरी था।

गोविन्द वल्लभ ने दूरदर्शिता से काम लिया और लेम्प देकर जीवनसिंह को हमारे लिए छोड़ दिया था। यदि लक्ष्य दिखाई पड़ जाय तो हृदय को आश्वासन मिल जाता है और टाँगों में भी

नया प्राण प्रवाहित होने लगता है परन्तु यह तो अन्तिम क्षण तक न हुआ। हमें छिरचिन जाना था। थोड़े आगे चले गये थे। हम लेम्प जलाकर चलने लगे। टार्च भी थी। वर्षा होने लगी। छाते तो किसी के पास थे नहीं। धुरों में अपना आप नहीं उठाया जाता, छाता कौन उठाता? हवा तेज चल रही थी। ठन्ड से शरीर अकड़ रहा था रास्ते में पत्थर ही पत्थर थे। हवा का झोंका आया और लेम्प बुझ गई। फिर से लेम्प जलाई गई, काफी कठिनाई से, और फिर चले। हर ३०-४० कदम पर रोगिनी पार्वती को विश्राम देने के लिए रुकना पड़ता था और वह बेचारी लाठी पर ही सिर रखकर चार श्वास लेकर आगे बढ़ती थी। उसकी बाँह पकड़ रखनी आवश्यक थी।

सभी पहुँचने को उतावले हो रहे थे। जीवनसिंह से पूछा जाता 'कितनी दूर है?' वह कभी कुछ कहता कभी कुछ। वहाँ सड़क तो थी ही नहीं। रास्ते के चिन्ह भी अदृश्य थे। जीवन सिंह के बताये फासले से हम दुगना चल चुके होंगे। कपूरीलाल तथा अन्य लोगों के मन में सन्देह दौड़ने लगा कि हम रास्ता ही न भूल गये हों। जीवनसिंह को जली कटी कही जाने लगी। मैं यह तमाशा देख रहा था। फिर हवा का झोंका आया और लालटेन बुझ गई।

अब टार्च से ही काम लेते हुए आगे बढ़े। थोड़ी देर में एक भोटिये कुत्ते की भौंकने की आवाज कान में पड़ी। 'हम पहुँच गये।'

आशा थी लगे हुए तम्बू मिलेंगे। शायद जलती हुई आग भी हो, परन्तु गोविन्द वल्लभ हमसे ½ घण्टा ही पहिले पहुँचे थे।

हवा में बत्ती टिकती ही न थी। अन्धेरे में एक पाल में सामान रख कर बैठे थे। हमने भी जाकर उसी में सिर छिपाया।

यह था उस पहिले दिन का वैचित्रय पूर्ण अनुभव। फिर भी उन अलौकिक विभूतियों को देखने के लिए, उन हिमाच्छादित विशालताओं और पवित्र वातावरण में कुछ घन्टे बिताने के लिए यदि इतना मूल्य देना पड़े तो मेरे हिसाब में तो अधिक नहीं। वह आजीवन एक स्मृति है। वह चैतन्य जिसका भान वहाँ एक बार हो आता है, इस मूल्य पर भी मिले तो सस्ता है।

———

तिब्बत में प्रवेश

(१४)

भारत तथा तिब्बत की सीमा निश्चित नहीं है। तिब्बत वाले तो मिलम तक अपनी ही सीमा बताते हैं और अँगरेज घाटों के दूसरी ओर छिरछिन से भी आगे सुमनाथ तक अपनी ही सीमा में कहते हैं। वहाँ पर सीमा का निश्चय कोई विशेष महत्व रखता ही नहीं। वह अमानव भूमि है जिस पर वस्तुतः अधिकार किसी का भी नहीं। अस्तु।

हम लोग छिरछिन में तो आ पहुँचे थे, परन्तु वह तिब्बत के अन्य पड़ावों की तरह पड़ाव ही था। निर्जन स्थल था। बस, पास में एक भेड़ों वाले भोटिये का तम्बू था। वह तो तीनों घाटों को पार कर अपनी भेड़ों सहित चार ही बजे आ पहुँचा था और हम पौने ६ पर वहाँ पहुँच पाये थे, उस दुर्गति में। भेड़ों को घेर वह तो तम्बू में पड़ रहा था।

बड़ी मुश्किल से दूसरा तम्बू भी लगाया गया। लालटेन को जला कर हवा की आड़ में रखा जिससे वह बुझने से बची रहे। आग को लकड़ी न थी और न ही जलाने के लिए हिम्मत। पानी की तृषा थी। परन्तु हिलने को दम न था। बेचारा जीवनसिंह ही थोड़ा पानी लाया। जैसे तैसे बिस्तर लगाये और टेढ़े हो गये। खाने की उस अवस्था में कल्पना भी न हो सकती थी। वहाँ पर

असीम जाड़ा था। नीचे से भी ठण्ड, ऊपर से भी ठण्ड और अगल बगल से भी ठण्ड ही घुसी जाती थी। ओढ़ने को काफी था फिर भी रात तो करवटें बदलते बीती। टाँगें ठण्डी थीं। दोहरे होकर भी देखा परन्तु विशेष लाभ न हुआ। वह हमारी तम्बू में पहली रात्रि थी। और तिब्बत की भूमि पर भी पहली ही। १६००० फीट से कम क्या ऊँचाई होगी, उस स्थान की। वर्षा में भीगे हुए हम पहले ही थे। हवा तो रात भर गजब की रही। तम्बू भी तो एक ओर से खुले थे।

प्रातः हुई, उजाला हुआ। जरा सूर्य की किरणें आईं तो बिस्तर छोड़ा। पता चला कि हम नई ही सृष्टि में आ गये हैं। रात तो उस अन्धकार में सूझा ही कुछ न था। पानी खोजा। उसे तो छूने मात्र से हाथ अकड़ते थे; अभी-अभी स्थान का विचार तो दूर। लगभग सारा केम्प ही मरीज़ों का था। दुर्गादत्त बीमार था—भैरवनाथ भी वैसे ही थे। मातायें भी ढ़ीली ही थीं। दो तो उठने तक का नाम न लेती थीं। कपूरीलाल भी अच्छे न थे। लगभग ९ बजे स्वामी जी भी आ पहुँचे। वे भी अस्वस्थ थे अजब मामला था। 'सारे का सारा कुनबा बिगड़ा' वाला क़िस्सा था। दवाइयों का सिलसिला चला। आवश्यकतानुसार दवाइयाँ दी गई और खाने की चिन्ता हुई।

मुझे तो सबसे अधिक प्रभावित करती है जीवनसिंह की दृढ़ता। वह भी बुखार से पीड़ित था। भोटिये शराब पीकर घाटे पार करते हैं। परन्तु बेचारा हमारे चक्कर में था। लकड़ी लाया और उसके बाद हमारे लिये चंवरों के प्रबन्ध के लिए दिन भर घूमा। मीलों ही घूमा होगा। प्रातः उसे खाना जल्दी ही खिला दिया गया था। मोटी मोटी रोटियाँ सेंकी गईं। १२-१४ आदमियों

का खाना बनाना खेल न था। दीदी ही रसोई में गई और खाना बनाते बनाते ही उसका सिर पीड़ा करने लगा।

दिन में .तीसरा तम्बू जो डब्बल फ्लाई टेण्ट था, लगाया गया। वह बड़ा आराम वाला घर था, हवा को रोक सकता था। हम उसमें बैठे हुए थे। सायं ५ बजे के लगभग जीवनसिंह ने आकर सूचना दी कि चंवरों के लिए जो पहिले प्रबन्ध किया गया था, वह सब बेकाम है। उस चंवर वाले का कुछ पता नहीं, हमारी विचित्र परिस्थिति थी। न जाने हमें वहाँ कितने दिन पड़े रहना पड़े। और बिना चंवरों के हम आगे कैसे चल सकते हैं? तिब्बत में सामान के लिये तो चंवर ही बरते जाते हैं और प्रायः सवारी के लिये भी।

कुछ भोटिये भी वहाँ पर आ रहे थे। पता चला कि मिलम के कल्याणसिंह वहाँ से लगभग ३ मील की दूरी पर हैं। गोविन्द वल्लभ का उनसे परिचय था। आशा थी कि वह प्रभाव शाली व्यक्ति होने के कारण संभव है कुछ प्रबन्ध कर दें। पत्र लिखा गया, परन्तु मैंने और दूसरे लोगों ने भी यही अच्छा समझा कि जीवनसिंह को साथ लेकर मैं स्वयं जाऊँ। मैं तय्यार हुआ और चल दिया। रात्रि मुझे वहीं व्यतीत करनी थी।

जैसे ही हमने नदी की घाटी को पार किया और सामने के पर्वत पर पहुँचे, सूर्य अस्त हुआ चाहता था। उस समय चारों ओर बहुत सुन्दर दृश्य हो रहे थे। उन पहाड़ों पर घास का तो नाम नहीं; परन्तु मिट्टी रंग बिरंगी है। अस्त होते हुए सूर्य के प्रकाश में वह विचित्र शोभा लिये थी। ऐसा लगता था मानो भिन्न भिन्न रंग की घास ही हो। कहीं कहीं गहरे से जहाँ पानी है, वहाँ थोड़ी घास भी उग आती है। वही पड़ाव भी भेड़ों वाले कर लेते हैं। सभी ऐसे स्थलों के नाम हैं। उन पहाड़ों में गोदन्ती

के हड़ताल तथा धातु के गोले से मिलते हैं। मुझे जीवनसिंह ने कुछ एक दिखाई भी। अंधेरा होते होते हम तोपकू पहुँचे और कल्याण सिंह की दूकान ढूंढ़ ली। वहाँ दुकानें भी तम्बुओं में होती है। मुझे वहाँ छोड़ जीवनसिंह अपने परिचित वालों के तम्बू में रात्रि बिताने के लिए चला गया।

थोड़ी ही देरी में कल्याणसिंह आ गये। मैंने पत्र दिया और परिस्थिति खोल कर सामने रख दी। भोटिये प्रायः सज्जन होते हैं परन्तु कल्याणसिंह जैसे दूसरे की सहायता करने वाले बिरले ही होंगे। मैं तो कह ही कर चला था कि मेरा जाना अमोघ होगा। मैं स्वयं वहाँ पहुँचा था, यह बात भी कल्याणसिंह पर विशेष जोर डाल रही थी तिब्बती लोग वहाँ पर ऊन बेचने को भेड़ें लाते हैं, उसके बदले में अनाज तथा कपड़ा ले जाते हैं। कल्याणसिंह ने तो उमर भर उन लोगों की आढ़त कर रक्खी थी, अतः उनका प्रभाव था। निश्चय हो गया कि जैसे भी हो कल हम सामान सहित तोपकू आ जायेंगे फिर आगे के लिए प्रबन्ध होगा। तोपकू में तो बहुत से लोग बस रहे थे। छिरछिन में पड़े रहकर प्रबन्ध होना असम्भव था।

वे घोड़े वाले जो हमें मिलम से लाये थे। वे बेचारे मुसीबत में थे। उस दिन उनको भी धुरा लगा। छिरचिन पहुँचते पहुँचते इतने थक गये कि घोड़े बाँधने की सुधि न रही। घोड़े भाग गये और तीसरे दिन कहीं बहुत दौड़ धूप के बाद मिले।

कल्याणसिंह ने अपने हूणिये (तिब्बती) मित्रों को बुलाया और परिस्थिति उनके सामने रक्खी। वे लोग सहर्ष सहायता के लिए तैयार थे। उन्होंने घोड़े जंगल में छोड़े हुए थे। उन्होंने हमें बचन दिया कि हम सूर्योदय से पूर्व ही घोड़ों की खोज में जायेंगे

और जल्दी ही उन्हें छिरचिन पहुँचा देंगे। जिससे हम लोग सामान सहित तोपकू आ सकें।

तिब्बती भाषा सुनने का यह मेरा पहिला अवसर था। कुछ भी समझ में न आता था। मुश्किल से दो एक शब्द पकड़ पाया रात वहीं पर व्यतीत की और प्रातः ही एक झिवू (चंवर तथा बैल के बीच का एक जानवर) और दो आदमी सामान लाने के लिए लेकर छिरचिन आया। सूर्योदय का दृश्य रास्ते में देखने ही योग्य था। कितना रम्य था।

जाकर जल्दी से सामान बंधवा, उनको विदाकर ही पाये थे कि इतने में घोड़े भी आ पहुँचे। वे भी लाद दिये गये। एक घोड़ा फालतू था मेरे मन में सवारी का शौक कूदा और मैं उस पर सवार हो गया। उन घोड़ों की स्फूर्ति तथा बल सर्वथा प्रशंसनीय है। देखने में तो दुर्बल से थे परन्तु प्राण उनमें प्रबल था। थोड़े में ही सवारी का मजा आ गया।

तोपकू पहुँचते-पहुँचते, १२ बज रहे थे और तम्बू लगाते २ एक बज गया। खाते-पीते ३ से अधिक हो गये थे। सूक्ष्म-सा ही खाना हो पाया। नरेन्द्र की भी तबीयत खराब हो गई। कपूरीलाल तो बुखार तथा आँव से पीड़ित थे ही। दुर्गादत्त भी बीमार ही था। मातायें तो वैसी ही थी। तोपकू ज़रा गर्म स्थान है। उस गर्मी ने कुछ जान डाली।

दूसरे दिन प्रातः हम (गोविन्दवल्लभ और मैं) सोच रहे थे नदी से लौटते हुए कि कैसे प्रबन्ध हो। कल्याणसिंह को लेकर एक चंवरों वाले के पास स्वयं जाने का विचार था, परन्तु वह बात हो भी न पाई थी कि ६ बजे के लगभग ७-८ चंवर नदी पार से आते दिखाई दिये। आशा जागृत हो गई। थोड़ी ही देर में

कल्याणसिंह उस चंवरों वाले को साथ लेकर हमारे घर में (तम्बू में) आ पहुँचा। भाव ठहराने में कई दाँव कल्याणसिंह ने चले। तिब्बती लोग तो यात्रियों को लूट ही लें, बस चले तो मांस और हड्डियाँ भी न छोड़े। परन्तु भोटिये व्यापारियों के सामने वे ही पालतू बिल्ली से बन जाते हैं। उन्होंने उन्हें साध रक्खा है। ५०) प्रति चंवर से आरम्भ होकर २३) रु० प्रति चंवर पर तै हुआ। लिखा गया। चंवरों वाले हूणिये का नाम था तोपगे। वह तीर्थापुरी के समीपस्थ मिस्सर स्थान का रहने वाला था। वह गृहस्थी था। गृहस्थी को खम्बा कहा जाता है। अगले दिन प्रातः चलने का निश्चय हुआ। वह हमें तीर्थापुरी, कैलाश तथा मान-सरोवर होता हुआ ज्ञानिमा मण्डी में पहुँचा देगा। फैसला होने पर ऐसा लगा मानो एक और घाटा हमने पार कर लिया हो। बीमार भी इस बीच कुछ अच्छे होने लगे थे। नरेन्द्र वैसे ही थे। कपूरीलाल भी बिलकुल ठीक न थे। पार्वती कमज़ोर थी और गांगुली की माँ भी, परन्तु उनको और कोई कष्ट न था। सूखे शाक के रस ने सभी के जिगर को उत्तेजित कर दिया था।

———

तीर्थापुरी की ओर

(१५)

अगले दिन प्रातः ७ बजे तक हम लोग तैय्यार हो पाये। लदते लदाते और देरी लगी। लगभग ८½ में हमने तोपकू का पड़ाव छोड़ दिया। हृदय में उल्लास था। होता भी क्यों न, हमारी यात्रा में यह एक बहुत बड़ा महत्त्व पूर्ण क़दम था जिसे हम उठा रहे थे।

तोपगे ने तीर्थापुरी जाने के लिए एक कम चलता हुआ रास्ता ढूँढ़ा तिब्बत में डाकुओं का सतत भय रहता है और चलते हुए रास्तों में ही उन्हें अधिक शिकार हाथ लगता है, अतः वे उधर ही रमते हैं। हम लोग ठाजंग न गये। तोपकू जिस नदी के किनारे है उसके इस पार ही पहाड़ों पर से धुआ-साम्बा की ओर चल दिये। इस रास्ते में चढ़ाव उतार भी कम होते हैं।

चंवर बेढब जानवर है तिब्बत में रास्ते तो होते नहीं परन्तु यदि कहीं हो भी तो चंवर कभी उस पर चलेगा नहीं। एक के एक पीछे दूसरा—ऐसे चलने का इसका स्वभाव नहीं। बराबर में चलेगा और कोशिश करता है अन्य चंवरों के बीच में घुसने की यदि कहीं दूसरी पंक्ति में पड़ जाय तो, पहाड़ पर सीधा चढ़ जाता है। बाल भालू से दीखते हैं और बल बहुत होता है। २ मन बोझा बिना तकलीफ के ले चलता है। है पूरा जङ्गली ही।

नाक में नकेल रहती है, उसका भी इशारा कम समझता है। अपनी मर्जी ही करता है। आदमी से भागता है। ऊपर चढ़े आदमी को गिराने में भी चुस्त है। कोई बिरला ही सवारी करने वाला इस अनुभव से बचा होगा। पहचानता है तो अपने स्वामी के चाबुक को और थोड़ा उसकी आवाज को। 'छयूः' 'छंयूः' करके तिब्बती उसे हाँकते हैं।

थोड़ी ही दूर चल पाये थे कि चंवर ने नरेन्द्र को पीठ पर से सरका दिया। एक दूसरे चंवर ने बोझा गिराया और भाग निकला। सारी की सारी यात्रा में मैं चंवरों के स्वामी तोपगे के धैर्य्य को देखकर चकित था। चंवरों का ले चलना बड़ा बेढब काम है, परन्तु वह तो खूब सिद्ध हस्त था, उन्हें लादने में और हाँकने में। सामान के बारे में उसने शिकायत न की और न कभी कुछ छोड़ा ही। सभी कुछ स्वयं कर लिया करता था। मेरी उससे खूब मजे की पटने लगी।

तिब्बत में खड़ी पहाड़ियां बहुत ही कम हैं। सामान्य भूमि की ऊँचाई लगभग १५००० फीट होगी। उस पर जो पहाड़ हैं उनकी ढलान बहुत कम है परन्तु हैं वे बहुत लम्बी ढालें--मीलों की-अतः ऊँचाई काफी पहुँच जाती है। बिल्कुल वीरान ही है वह भूमि। एक कंटकीली झाड़ी बहुतायत से होती है। इसी झाड़ी को लकड़ी के काम में लाते हैं। गीली ही वह जल जाती है। वे चाय के छांटे हुए पेड़ों सा दीखती हैं दूर से। कहीं कहीं तो यह भी नहीं। धूली उड़ती है चलने में, और उसमें छोटे छोटे पत्थर भी होते हैं। पर्वत शिखरों पर चट्टानें दीखती हैं। उस वीरान के अकंटक वासी हैं चूहे जिनके बिल दिखाई पड़ते थे। न जाने उनका गुजर कैसे होता होगा? हिमाच्छादित पर्वतमाला

को जिसे हम लाँघकर आये थे हम दक्षिण में पीछे छोड़ते जा रहे थे। वे छोटी और छोटी दीख रही थीं। हमारी बाँई ओर भी बर्फ वाली कुछ चोटियाँ थीं। आकाश निर्मल था दोपहर तक और दूर सामने तिब्बत के पहाड़ों पर धूप छाँह दिखाई पड़ रही थी। प्रसिद्ध लाल पर्वत भी सामने दीखता था। तिब्बत में भूमि की विषमता बहुत कम है। मैदान तो मैदान हैं ही परन्तु पहाड़ की ढालें भी मैदान ही लगती हैं देखने में चलने में तो उतने से ही टांगें फूलती हैं।

वह तिब्बत भूमि के नये-नये दर्शन थे। नूतनता में रोचकता होती है ही। दृष्टि दूर तक जा सकती थी। मैदान का सा अनुभव होता था। मैदानों वाले तो ऐसे दृश्यों को खूब पसन्द करते हैं। परन्तु, उस भूमि में पहिले दिन भी निर्जीवता स्पष्ट ही प्रतीत होती थी। वनस्पति का अभाव, जल का अभाव और प्राणियों का नितान्त अभाव। पक्षी तक भी तो देखने में न आते थे। इसमें सन्देह नहीं कि वातावरण में विचित्र निस्तब्धता थी। मानसिक हलचल स्वतः ही कम होती थी। वहाँ हलचल होती है वायुमंडल में। ६ बजे के उपरान्त जोर की हवा चलती है। हवा ठण्डी होती है। चमड़ी को फाड़ देती है। नाक मुँह की तो गत ही बिगाड़ देती है। इसके कारण काफ़ी कष्ट होता है।

पहिले दिन ही वर्षा का भी थोड़ा अनुभव हुआ। बादल आते ही हाथ ठण्डे होने लगते हैं। बूँदों के साथ चलने वाली हवा तो बर्फ का स्पर्श लिये रहती है परन्तु बूँदा-बाँदी होकर ही रह गई। धूप तिब्बत में भी कड़ाके की लगती है। गर्म कपड़े उतारने को चित्त होता है परन्तु पसीना तो आता ही नहीं!

शाम होने से पहिले ही हम उसी नदी की घाटी में फिर उतरे। दिन भर पानी के लिए तरसते थे। आकर नदी में जल

पिया। किनारे पर निर्मल जल की धारा बह रही थी। नदी का पानी तो मैला था। हमारे तम्बू लगाते-लगाते नदी बढ़ी और सभी पानी एक सा हो गया।

हवा परेशान कर देती है तिब्बत में। तम्बू 'लगाने में परेशानी, रोटी बनाने में परेशानी और रास्ता चलने में परेशानी! रात को और सुबह-सुबह हवा ज़रा शान्त रहती है।

हम लोग धुंआँसाम्बा पहुँच गये थे। हमने उत्तर दिशा में ११ मील का सफ़र किया होगा। धुंआँसाम्बा का अर्थ होता है 'पत्थर का पुल।' वहाँ पर कोई पुल न था। पुल अभी १ मील और नीचे था। हमारा रास्ता यहीं से ज़रा पूर्व को घूम जाता था। अगले दिन प्रातः हमें नदी पार करनी थी।

———

तिब्बत के मैदान

(१६)

'देखने में छोटी परन्तु गुणों में खोटी' यही तिब्बत की बर्फानी नदियों का ठीक वर्णन मालूम पड़ता है। ऊँचे किनारे पर से वह नदी बहुत चौड़ी न दीखती थी। परन्तु वहाँ से तो न चंवर जा पाते और न आदमी ही। अतः हम लोग ऊपर की ओर गये जहाँ नदी अनेक धाराओं में विभाजित थी। पानी की ठण्डक दुःखदायी थी। टाँगे बिल्कुल सुन्न हो जाती थी। एक धार को पार कर दूसरी में घुसने के लिए हिम्मत चाहिए थी और हिम्मत किये बिना काम बनता भी न था। हम लोग सभी पार हो गये। वेग काफ़ी था, परन्तु बहाने लायक न था। पानी तो पीने के योग्य था ही नहीं।

चंवर में एक और विशेषता है। प्रायः वह अकेला नहीं चलता नदी के उस पार से एक आदमी को लाना हो तो दो चंवर चाहिये। एक साथी और एक सवारी के लिए। इस कारण भी काफ़ी परेशानी रही। नरेन्द्र ने चंवर पर ही पार किया।

नदी के दूसरे पार पर्वत की धार पर रास्ता था। हमने चक्कर लेने के बजाय सीधा ही ऊपर चढ़ जाने की ठानी। वह चढ़ाई जितनी दिखती थी उससे कई गुणा अधिक थी। चढ़ते-चढ़ते होश ठिकाने आ गये। चंवर तो पीछे थे ही। जरा सुस्ताये

अब हमें पूर्व दिशा को जाना था। आज लिक्शिफू पहुँचने का विचार था।

तिब्बत में चलने का प्रचलित और उचित तरीक़ा है, प्रातः ही चल देना। दिन में सत्तू अथवा अन्य कुछ सामान खाकर निर्वाह करना और शाम को ही डेरा डालने के बाद एक ही बार खाना बनाना। हर दृष्टि से यही समुचित भी है।

थोड़ा ही चलने पर हमने मैदान में प्रवेश किया। मैदान की दूसरी सीमा एक पर्वत थी। उसी के काने के पास से हमें उत्तर की ओर घूमना था। मैदान के दूसरी ओर लगे तम्बू दीख रहे थे। समझते थे कि बस, अभी उस छोर पर पहुँच जायेंगे परन्तु चलते-चलते दोपहर हो गई और हम अभी बीच ही में थे। देखते-देखते आँखें ऊब जाती है और चलते-चलते टाँगें। वही दृश्य सामने आता है और उतना ही दूर लगता है। वे पहाड़ियाँ रुण्ड मुण्ड सी और वही मैदान। परिवर्तन का नाम नहीं। व्यक्ति का मन भी ऊबने लगता है उस अपरिवर्त्तन शीलता से, और पहाड़ों की अभ्यस्त टाँगें ऐसे मैदानों में तंग आ जाती हैं।

१२ बजे के बाद हम उन तम्बुओं के पास पहुंचे। वे तम्बू तो उस किनारे से अभी दो मील की दूरी पर थे। यहाँ पर एक नदी थी। उसका पानी गन्दा था और बदबू भी देता था। साथ में थोड़ा पानी रक्खा हुआ था परन्तु वह कितनों तक पहुँचता। वहीं पर कुछ खाना खाया और उसी जल को मैंने तो पिया ही।

तिब्बत को मैं तो ठण्डा रेगिस्तान कहता हूँ। आगे भी हमें कुछ दिन पानी साथ ही लेकर चलना पड़ा, क्योंकि (सिवाय आगामी पड़ाव के) रास्ते में पानी मिलता ही न था। रेगिस्तान सी हवायें चलती हैं और वैसा ही वनस्पति का अभाव भी हैं।

यहाँ पैदा तो कुछ होता नहीं। यहाँ के लोग यात्री को देखकर हाथ फैला देते हैं। पैसों के लिए नहीं खाद्य पदार्थों के लिए। पैसे से वे क्या करेंगे? खाद्य पदार्थ तो दुर्लभ हैं कहीं कहीं तो यात्रियों को दिक्क कर देते हैं ये बुभुक्षित भिखारी।

फिर चले उस पर्वत के छोर पर पहुँचे, यहाँ भी कुछ तिब्बतियों के घर थे--तम्बू थे। उनका तम्बू ऊन के कपड़े का बना रहता है। और बड़े ढङ्ग से लगाया जाता है। भीतर जगह काफ़ी रहती है और आदमी सीधा खड़ा भी हो सकता है। एक चौकी पर लामागुरु की तस्वीरें रहती हैं। प्यालियों में पानी रहता है और दीपक। चूल्हें पर चाय का बर्तन। मैं तो एक घर में घुस गया था। मालिक कपड़े सी रहा था और घर के बाहर छांछ सूख रही थी। वे लोग चंवर गाय पालते हैं। उसी से घी, दूध और छाँछ होती है। तिब्बत भाषा के दो चार शब्दों तथा इशारों से थोड़ी बातचीत हो जाती है। यात्रियों को देखकर उन लोगों को उत्सुकता होती ही है।

यहाँ से आगे थोड़ा ही चलना होता है, ऐसा कहा गया था परन्तु ३ मील से वह कम न था। मुझे तो खूब खला। तिब्बत की यात्रा तो बिल्कुल अरोचक प्रतीत हो रही थी। मन तथा तन इसे मुसीबत सी मान रहे थे।

तिब्बत में रोचक है तो आकाश जो दिन भर में कई रङ्ग बदलता है। अब बादल आते हैं, पल भर में बूँदे पड़ती हैं। फिर खुलता है और कड़ाके की धूप पड़ती है। फिर बादल आते हैं और छोटे छोटे गोले गिरते हैं साथ में बर्फ़ानी हवा बर्छियों सी लगती है। फिर झट खुल जाता है और सब अरुचिकर हो जाता है। वह मैदान और वह पर्वत की समाप्त न होने वाली ढालें वह वीराना और उस वीराने के निवासी।

लिक्शिफू का पड़ाव भी एक नदी के किनारे है। नदी में पानी नहीं, कीचड़ बहता है। वह बू भी देता है। उसी पर फिटकड़ी का प्रयोग कर जैसे तैसे गले से नीचे उतारा। करते क्या ? परवशता थी। प्राण तो उस दिन के लिए उत्सुक थे जब शीतल सुस्वादु जल भर-पेट मिलेगा। उस जल में नहाना कैसे हो ! गोविन्दवल्लभ और मैंने तो उस दिन वायुस्नान से ही तृप्ति पायी। आँखों से देख कर तो उस पानी से कुल्ला करने को भी मन नहीं होता था।

दूसरे दिन प्रातः ही चले। हमारा उद्देश्य था खिमलिंग। सामने पर धार से जाना होता है। एक मील चलकर चढ़ाई आरम्भ हुई। वह समाप्त होने में ही न आती थी। घाटों पर तिब्बती लोग ऊँचा पत्थरों का निशान बना रखते हैं। झण्डियाँ भी प्रायः लगी रहती हैं। उसी के समीप जाकर हम लोगों ने थोड़ा आराम किया और फिर नीचे को लुढ़के रास्ता उतरता चला जाता था। हम आपेक्षाकृत गर्म स्थान की ओर जा रहे थे। मध्याह्न को सत्तू खाया और थोड़ा थोड़ा हिस्से के मुताबिक पानी पिया। कभी ऊपर कभी नीचे चलते हुए हम लोग चार बजे के पूर्व ही खिमलिंग जा पहुँचे।

खिमलिंग सतलुज नदी के किनारे है। पानी की आशा टाँगों को स्फूर्ति दे रही थी। समीप ही में खिमलिंग के घर दीखते थे, परन्तु उतरते उतरते ठीक दूरी का अनुमान हो पाया था। सारे तिब्बत में यह एक विडम्बना होती है नेत्रों की। आखिर व्यक्ति आँखों पर विश्वास ही करना छोड़ देता है। ठण्डे पानी के प्रवाह में से पेट भर पानी पीकर संतोष हुआ प्राणों को। कितने ही दिनों के बाद ऐसा पानी पीने को मिला था। वह कितना सुस्वादु तथा शीतल था।

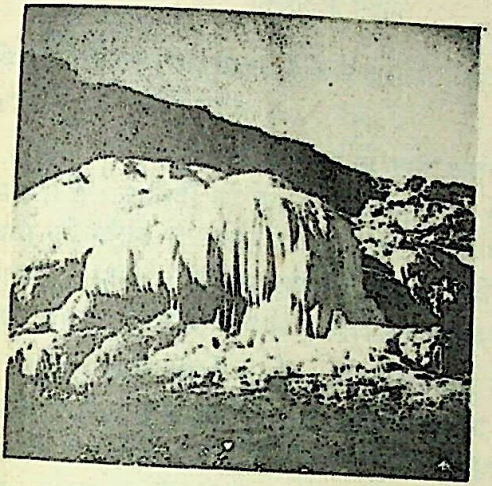
खिमलिंग में कुछ घर हैं और बहुत सी गुफायें। वैसे तो तिब्बती भाषा में घर भी गुम्फा ही कहा जाता है परन्तु वहाँ तो उन लोगों ने पहाड़ को खोद खोद कर काफ़ी अच्छे और बहुत संख्या में निवासस्थल बना रक्खे हैं। वहाँ एक बौद्ध विहार है परन्तु आज कल तो वहाँ कोई लामा न था। केवल मात्र कुछ शिष्य तथा शिष्यायें थीं। शिष्य को डाबा कहते हैं और शिष्या को चामा। लामा तो आचार्य होता है। लड़कियाँ तथा लड़के छोटे पन में चढ़ा दिये जाते हैं विहारों में।

यहाँ पर हमें कुछ हरियाली देखने को मिली (खिमलिंग में ही तिब्बत गवर्नमेंट का तहसीलदार रहता है। उससे भेंट हुई) उन खेतों में वे दो तीन ही थे। जौं हो रहा था और मूलियाँ। मूली के पत्ते हमें भी खाने को मिले।

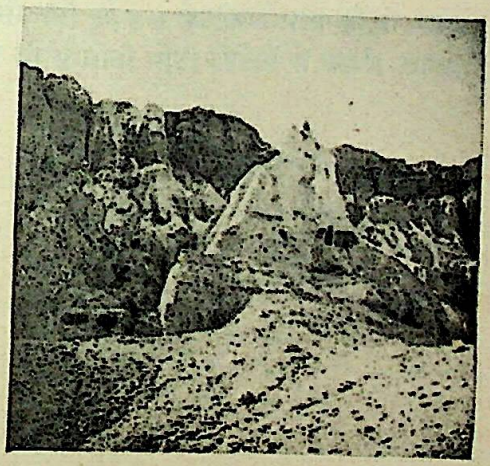
वहाँ सतलुज पर एक पुल है। वह नाजुक सा है। चंवर तो पुल पर से पार जाते ही नहीं। अतः सामान वैसे पार करना होता है। चंवर नदी में से तैर कर आते हैं। शाम ही को हम उस पार हो गये।

मैं तो गुम्फायें देखने को गया। वहाँ भी उस समय ऊजड़ था। लोग चंवर गायों को लेकर लिक्शिफू के मैदान में गये हुए थे। प्रवेश स्थल पर एक झण्डा लहरा रहा था। एक कुत्ते ने मेरा स्वागत किया और मैं वहाँ से लौट आया। हाँ! दो तस्वीरें खींच लाया जिनसे गुम्फाओं के बारे में पता चल सकता है।

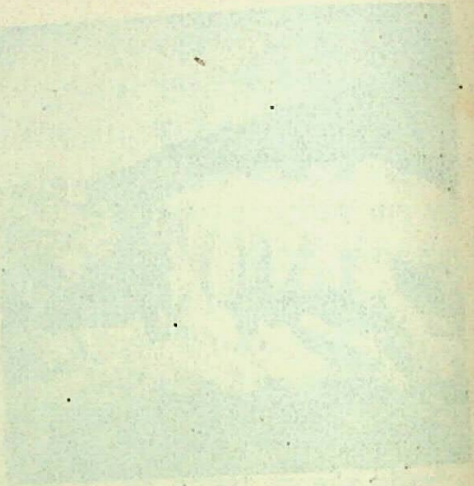
खिमलिंग में गर्म पानी का एक सोता है। चूने का गुम्बद सा बना है। उस पर से पानी नीचे ढलकता है। नीचे ही कुण्ड बने हैं। वह संगमरमर सा सफेद, बहुत सुन्दर लगता था—



खिमलिंग में गन्ध का सोता। प्रातः सूर्य की किरणों में वह संगमरमर का सा दीख रहा था।
(अध्याय १६)



खिमलिंग का विहार खोदी हुई गुफाओं में है।
(अध्याय १६)





विशेषतः प्रातःकाल, बालरवि के प्रकाश में। बराल में ही सतलुज का वेगवान् प्रवाह था।

यहाँ पर लकड़ी नहीं है। दूर से लानी पड़ती है। अतः मोल मिलती है। यात्रियों को देखने तहसीलदार की स्त्री भी आई थी। खाने को माँगने में उसे भी कोई संकोच न था। स्त्रियाँ अपने गालों पर प्रायः कत्था-सा कुछ रंग लगा रखती हैं। सौन्दर्य के लिए अथवा फटने से बचाने के लिए सो कहना कठिन है।

चंवरों वाले तोपगे का डेरा तो हमेशा खुले में ही होता था। आते ही झट उसकी आग सुलग जाती थी और चाय की केटली जिसमें कम से कम दो सेर तो पानी आता ही होगा, चढ़ जाती थी। खाल की धौंकनी तैयार ही रहती थी। देखते देखते चाय बनती थी, नमकवाली और उसमें चंवर गाय का मक्खन छोड़ा जाता था। प्याले पर प्याला पीता चला जाता था। उसी में सत्तू डालकर जवान से ही चाट लेता था। मैंने तो देखा नहीं, साथी लोग कहते थे कि वैसी भरी हुई ४-५ केटलियाँ चाय की पी जाता है। हमारी रसोई से भी ४ मोटी मोटी रोटियों से उसका सत्कार होता था।



भीतर की एक झाँकी

(१७)

खिमलिंग पहुँचने से बहुत पूर्व जब हम इधर भारत की सीमा को पार भी न कर पाये थे, 'आखिर मैं कैलाश क्यों जा रहा हूँ ?' यह प्रश्न भीतर उठा था। 'गतवर्ष, विद्यानन्द जी के आग्रह पर मैं तैयार भी था परन्तु फिर भी न गया और इस वर्ष क्यों इतने उत्साह के साथ कैलाश के पथ का पथिक बना ?'

उत्तर भी भीतर ही से स्फुट होकर आता था। 'शङ्कर मुझे बुला रहे हैं, नहीं नहीं स्वयं मुझे कैलाश को लिये जा रहे हैं। गतवर्ष तो मेरी ही अन्तरात्मा मुझे प्रेरित नहीं कर रही थी, जाने के लिए। आन्तरिक प्रेरणा होती तो वाह्य किसी प्रकार की अड़चन हो ही कैसे सकती थी !

आज से कई वर्ष पूर्व की बात है, जब मैंने इन अल्मोड़ा के पर्वतों में पहिले पहिले प्रवेश किया था; वह एक बहुत ही महत्व पूर्ण घटना जीवन की दिशा को आमूलचूल बदल देने वाली थी मैं मोटर में था, सायं समय था और मोटर दौड़ती हुई सोमेश्वर की ओर जा रही थी। किसी ऊंची अदेहधारी चेतना ने मेरा इन पर्वतों में स्वागत किया और लक्ष्य की प्राप्ति का अश्वासन भी दिया। उस चेतना का रक्षामय हस्त मेरे सिर पर बना ही रहा, ऐसा मैं प्रतीत करता रहा हूँ। 'म्हांरी उनकी प्रीत पुरानी'

समय बीतता गया। वह समय भी आया जब मुझे उस चेतना का स्फुट अनुभव होने लगा। मैं पहिचानने लगा कि वह कौन है जिसकी कृपा का मैं पात्र बना हूँ। मैं उस चेतना को आदि गुरु शंकर की चेतना समझने लगा। यह आन्तरिक जगत् का भान था। पौराणिक शिव का इसके साथ कोई सम्बन्ध न था। (यद्यपि पौराणिक शिव को भी मैं एक प्रतीक ही समझता हूँ)। वह चेतना मुझमें और मैं उस चेतना में धीरे धीरे रमने लगे।

कैलाश मेरी समझ में वह केन्द्र है, जहाँ से उस महती चेतना का प्राधान्यतः प्रसार होता है। वैसे तो वह चैतन्य हर स्थल पर प्राप्य है, परन्तु कैलाश उसका इस पार्थिव लोक में प्रतीक भी है और प्रसार केन्द्र भी। अतः शिव वहाँ पर अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव हो सकते हैं। वैसे तो दक्षिण में चिदम्बरम् तथा पंढ़रपुर ने मुझे बहुत ही प्रभावित किया था। महाशक्ति के विचित्र प्रवाह को मैंने वहाँ अनुभव किया। पहिले स्थान के बारे में तो वहाँ पहुँचने से पूर्व मैं कुछ जानता भी न था।

इस अनुभव की पृष्ट भूमिका से यह समझना कठिन नहीं कि मैं किस मनोवृत्ति को लेकर चला जा रहा था कैलाश की ओर। कभी भाव उमड़ते थे और प्रीति की, श्रद्धा की तरंगें उद्वेलित होती थीं परन्तु वह तो कभी कभी होता था। अपनी तीव्रता के कारण वह उद्वेग तो रोज रोज सहन भी नहीं किया जा सकता। परन्तु प्रायः भीतर एक निस्तब्धता रहती थी, जिस में यह सभी कुछ स्थिर रूप से छिपा रहता था।

मैं तो अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाने जा रहा था। यदि इतना अहंकारमय प्रयोग मैं कहने के लिए कर सकूँ तो। वस्तुतः निर्णायक तो और ही थे और वे ही ले जा रहे थे। यह भाव तो

मुझे प्रथम ही हो चुका था कि यह यात्रा मेरे जीवन में विशेष महत्व के अनुभवों को जागृत कर देगी आध्यात्मिक दृष्टि से और वे अनुभव मेरे लिए ही नहीं मेरे स्नेही मित्रों के लिए भी महत्व पूर्ण होंगे।

एक नहीं, अनेक ऐसे यात्री रहे हैं जिन्होंने कुंगरीबिंगरी के घाटे से ही कैलाश के दर्शन किये हैं। हमारे साथ में ही ऐसे थे। हम तो इतने दिनों तिब्बत में भी चल चुके थे, परन्तु आज तक हमें वह झलक न मिली थी। शायद मिल जाती तो आगामी आनन्द वैसा अतिशायी प्रतीत न होता। हम उस अलक्षित लक्ष्य की ओर बढ़े जा रहे थे पूर्व की दिशा में।

मैंने जो कुछ ऊपर की पंक्तियों में लिखा है वह शायद किसी को काल्पनिक सा प्रतीत हो। मुझे तो इतना ही कहना है कि वह मेरे लिए मेरे अनुभव का ठोस सत्य आज भी है। मैं ऐसे अनुभवियों में अपने को अकेला भी नहीं पाता हूँ। आध्यात्मिक संवेदन शीलता का अतिशय ही इस प्रकार की अनुभूतियों में कारण रहता है।

———

गुर्ग्यम का विहार

(१८)

हमारा रास्ता गुर्ग्यम होकर तीर्थापुरी जाता था। गुर्ग्यम भी सतलुज के किनारे पर था और खिमलिंग भी। एक रास्ता नदी के किनारे किनारे जाता है और उससे गुर्ग्यम ८ ही मील होता है परन्तु चँवर उस रास्ते जा न सकते थे और हम इकट्ठे ही चलना चाहते थे अतः पहाड़ों पर से जाता हुआ रास्ता पकड़ा गया। केवल ३ मील अधिक जाना होता था।

तिब्बत में प्रवेश करते ही हमने समझ लिया था कि चढ़ाइयों से बहुत दिनों के लिए पल्ला छूट गया है। अब तो मैदान रास्ते होंगे, इस बात का संतोष था परन्तु अनुभव में हमेशा वैसा रहा नहीं। थोड़ी ही दूर सतलुज के किनारे चल कर हमने एक सीधी खड़ी चढ़ाई चढ़नी आरम्भ कर दी। मैं कह ही आया हूँ कि तिब्बत में रास्ते नहीं के बराबर होते हैं। एक के बाद दूसरी, चढ़ाई पर चढ़ाई आती चली गई और ऊपर से सूर्य की प्रखर किरणें। ठण्डे प्रदेशों में जब हवा नहीं चलती तो सूर्य बहुत ही व्याकुलता पैदा करता है। चंवर तक तो उस दिन परेशान थे। सवारी वाला चंवर तो बेचारा उस चढ़ाई में हाँफने लगा था।

चढ़ाई तो दीखने में बहुत लगती ही नहीं परन्तु चढ़ने में आफ़त तो आती है। उस १५ हज़ार की ऊंचाई पर इतने दिन

तिब्बत में काटने पर भी साँस फूलता ही था और कदम मानो गिन गिन कर आगे रक्खे जा रहे हों।

इन पहाड़ियों पर जम्बू घास होती है। ज़रा नीला सा मोटा दलदार तिनका होता है, और फूल भी लगता है। यह घास सुगन्ध वाली होती है और अल्मोड़े जिले में तो प्रायः सभी घरों में शाक को सुगन्धित करने के लिए इसका छौंक दिया जाता है। तिब्बती लोग इसे नीचे के प्रदेशों में बहुत मात्रा में ले आते हैं और बेच कर निर्वाह करते हैं। इस घास को सब्जी के लिए उन पर्वतों से माताओं ने खूब चुना।

रास्ते में पानी नहीं मिलेगा इस बात की खबर हमें मिल चुकी थी। अतः पानी की बोतलें भर कर साथ रक्खी गई थीं। एक ढाल से दूसरी ढाल पर सरकते-सरकते हम ऐसी जगह आखिर पहुँच ही गये जहाँ से हमें उतरना ही उतरना था। चढ़ाई समाप्त हो चुकी थी। चढ़ाई से व्याकुल हृदय कितना सन्तुष्ट होता है, उसकी समाप्ति जानकर।

कहाँ तो वह तीव्र धूप और कहाँ थोड़ी ही देर में आकाश में बादल मंडराने लगे और नन्हे नन्हे ओलों की बौछाड़ आई। वह क्षणिक लीला थी। हवा चली ज़ोर की, ओले भी गायब और बादल भी, कड़ाके की धूप लगने लगी।

लगभग १ बजे हमें नदी के तट से काफी दूरी पर नीचे मैदान में गुग्यर्म की गुम्फा दीखने लगी। घाटी पर से उतरते हुए—वस्तुतः उन पत्थरों में उतरना नहीं बनता था—लुढ़कना होता था। कई ऊँचाइयों और नीचाइयों को फाँदते हुए, उसी भूमि पर जिसे हमने मैदान समझा था, लगभग २ बजे दोपहर को वहाँ पहुँचे। मैदान की गर्मी की याद आ रही थी। उसी गुम्फा की

सीढ़ियों पर—जो भीतर मन्दिर है उसकी सीढ़ियों पर आकर बैठ गये। समीप जो पानी था उसे पीने को मन मानता न था, वह गर्म था और बहता हुआ प्रतीत नहीं होता था। दो माताओं ने ही हिम्मत की और पानी का एक पात्र दूर से, आधे मील से अधिक दूर से, भर लाईं। तृषा शान्त हुई और जान में जान आई। तीर्थापुरी वहाँ से केवल ६ मील होता है परन्तु उस गर्मी और चढ़ाई ने बहुतों को परेशान कर रक्खा था। अतः यही निश्चय रहा कि आज यहीं मुकाम हो।

उस डब्बलफ्लाई टेंट में रहने में तो बहुत आराम मिलता है। परन्तु दिन भर रास्ता नापने के बाद उसे लगाना बोझा ही मालूम पड़ता हैं। परिश्रम अधिक पड़ता है। कम से कम ४ आदमियों की आवश्यकता पड़ती थी और १३, १४ तो खूंटे गाड़ने होते थे, कई एक लोहे की कीलें गाड़ी जाती थीं, कई अतिरिक्त रस्सियाँ भी बंधती थीं, दरी बिछती थी, फिर कहीं जाकर रहने लायक होता था। आधा घण्टा लग ही जाता था। मन बेइमान हो रहा था कि इन्हीं मकानों में कहीं स्थान मिल जाये तो इस परेड से २ वक्त के लिए तो छुट्टी मिले। परन्तु पानी की कमी थी और इन विहार वाले लामा और डावे, चामों के रोष का डर। दूसरे, रसोई के लिए जो स्थान हो रहा था, वहाँ शायद बैल भी भूसा खाना पसन्द न करते। नदी के किनारे तम्बू के लायक भूमि ढूँढ़ी और तम्बू परेड पूरी कर, जम गये। हवा तो तम्बू लगाने में ही परेशान किये थी, रसोई वालों की हालत का तो क्या कहना? न जाने, उन १५ आदमियों की रोटी बनाने में दीदी के कितनी जगह पर हाथ झुलसे होंगे।

हम तो कल्पना ही कर सकते हैं। वे जानती हैं। सचमुच हवा न थी आँधी थी।

माँगने वालों ने यहाँ परेशान किया। एक चामा छोकरा था। उसकी चंचलता आज भी याद आती है। शायद उसमें बन्दर ने वास किया था। और, भिखारी तो एक के बाद दूसरा चले ही आते थे, तांता बंधा था। मास्टर साहिब ने तो कठोर वाणी ही उनका उचित सत्कार समझा।

स्वामी जी ने अपने गत वर्ष के अनुभव कर रखे थे। गत वर्ष में जिनके साथ वे आये थे, उनकी स्थानीय लामा के साथ मित्रता थी। उन्होंने काफी कुछ खाद्य सामग्री तथा रुपये लामा को भेंट किये थे। प्राप्ति की आशा जगी हुई थी। कुछ भेंट तथा रुपये (एक या दो) थाली में रखकर, अपने दुभाषिये को साथ लेकर, लामा से भेंट करने को हम लोग भी गये। लामा अपने लिए एक मकान बनवा रहा था और उसमें खूब व्यग्र था। गये, नमस्कार पुरस्कार हुआ, भेंट दी गई। थोड़ा सा परिचय दिया गया। चर्चा चलनी आरम्भ ही हुई थी; मैंने चमड़े के केस में से केमरा निकाला और उसका व्यू फाइन्डर जो ऊपर को था खोला। लामा एकदम से तलमला उठा। मैंने बिना पूछे फोटो ली नहीं थी, केवल तैय्यारी कर रहा था कि यदि वह राजी हुआ तो ले लूँगा। हम लोगों से घबरा कर उसने हमें चले जाने को कहा और सीधा हाथ तलवार पर पहुँचा। खूब मजे की रही। वह हमसे डर गया था।

तिब्बती लोग केमरे से बहुत डरते हैं। अभिचार-कर्म में फोटो बहुत उपयोगी होती है। यह बात सम्भवतः ये लोग जानते हैं। अथर्ववेद में तो, मिट्टी का पूतरा बना कर ही, अभि-

चार सिद्ध हो जाता है। यदि फोटो मिल जाय तो कहना ही क्या ? दूसरे, अभी ४ वर्ष पूर्व कुछ डाकुओं ने जो रूसी सरहद के थे (सम्भवतः), गुर्ग्यम के विहार को लूट लिया था। लामा कठिनाई से जान लेकर भाग पाया था। स्वामी जी वाली सारी आशायें ढेर हो गईं। हमें मन्दिर दिखाने के लिये एक डाबा को नियुक्त कर दिया गया था। हम उस गुम्फा से नीचे मन्दिर की ओर आ गये।

यह तो पता चल ही चुका था कि तिब्बत में पेड़ नहीं होते। अतः इमारती लकड़ी वहाँ कैसे हो सकती है ? वह लकड़ी तो उन हिमालय के बर्फ़ानी घाटों के पार से ही आ सकती है। कितने पुरुषार्थ तथा पैसे का काम है, उन घाटों के पार से लकड़ी मँगवाना। भारत से तिब्बत में हिमालय के पार लकड़ी ! वहाँ के लामा ने यही किया था। नीति घाटा से लकड़ी आती थी, वहाँ से नीति घाटा ७ दिन का रास्ता है। उसके शिष्य डाबे ही प्रायः सभी काम, मकान बनाने का कर रहे थे। वह लामा पंडित है। भारत भी शायद आया है और बहुत पुरुषार्थी है। उसने गुर्ग्यम विहार की बहुत उन्नति की है। पुननिर्माण का सभी कार्य उसी का रहा है। तिब्बत की गवर्नमेंट से सहायता भी प्राप्त होती है; इसमें सन्देह नहीं।

वह मन्दिर सुन्दर था। बाहर से उसकी विशालता का अनुमान करना कठिन है। दीवारों पर चार्ट टँगे थे। चित्रकारी भी हुई थी और पीछे की ओर वाले, छोटे लम्बे कमरे में मूर्तियाँ थीं वह बड़ी, जीवित प्रमाण से भी बड़ी थीं। मूर्तियां किनकी थी ? यह कहना कठिन है, प्रयत्न करने पर भी हम निश्चित रूप से नहीं जान पाये परन्तु थीं बहुत सुन्दर, कला की दृष्टि से। लामा

स्वयं एक उच्चकोटि का कलाकार हैं। ज्योति जल रही थी। प्यालियां भी रक्खी थी। सुगन्धी भी थी ही। पूजा का सभी सामान था।

बौद्ध देव माला से मुझे परिचय नहीं के बराबर है। वे चित्र जो दीवारों पर थे, पौराणिक से लगते थे।

डाबा लोग स्वयं सिक्कों को स्वीकार नहीं करते। मन्दिर में भले ही चढ़ा दिया जाय। खाद्य पदार्थों को तो सभी, सहर्ष स्वीकार ही नहीं करते मांगते भी हैं। विहार में सभी का--लामा, डाबा तथा चामा का सिर मुण्डा रहता है। दाढ़ी भी नहीं रहती, परन्तु गृहस्थी लोग बाल रखते हैं। दाढ़ी तो मैंने किसी के भी नहीं देखी। शायद तिब्बतियों के दाढ़ी उगती ही नहीं।

गुर्ग्यम में, कुछ और भेड़ों वाले भी तम्बू डाल कर पड़े थे।

———

तीर्थापुरी

(१६)

गुर्ग्यम से तीर्थापुरी का रास्ता, अधिकतर सतलुज के किनारे किनारे हैं। तीर्थापुरी भी सतलुज के ठीक किनारे पर है। उस दिन का रास्ता कितना मनोरम था। घास के विशाल मैदान-- पली हुई ऊँची ऊँची घास सभी! ओर हरा भरा। तिब्बत में ऐसा दृश्य तो दुर्लभ है। कई दिनों के बाद नेत्रों ने ऐसे दृश्य को देखा था। रास्ते में पानी के अनेक नाले थे, जो सतलुज में गिरते थे। और कीचड़ भी था ही। कहीं कहीं तो ठेट दलदल थी, फँस जायें तो निकलना मुश्किल हो।

बाकी का आधा रास्ता तो वही तिब्बती है। पत्थर के ढेलों से पटा हुआ मैदान। पाँव नंगे हों तो होश ठिकाने हो जायँ। रास्ता बिल्कुल मैदान ही था। तीर्थापुरी सामने दीख रही थी।

तिब्बत के मैदानों में एक जङ्गली जानवर देखने में आता है। पतली पतली लम्बी लम्बी टांगें परन्तु देखने में घोड़ा ही लगता है। बदन पर धारियां सी भी होती हैं और पीठ पर जीन का सा निशान। इसे लोग रामघोड़ा कहते हैं। झुंडों के झुण्ड फिरते हैं। उनकी दौड़ पलटन के सिपाहियों सी लगती है। कभी कभी खड़े होकर निश्चल हुए मनुष्यों की ओर देखा करते हैं, शायद उतने आश्चर्य से, जितने आश्चर्य से मनुष्य उन्हें देखते हैं। उस

मरुभूमि में मनुष्य भी तो कभी कभी दीखता होगा। ऐसे घोड़े हमें कई बार देखने को मिले।

हम सतलुज के किनारे किनारे नीचे की ओर चले आ रहे थे। गर्म स्थान है, तिब्बत के प्रमाण से, और वहां पर धूप चुभती थी। आखिर तीर्थापुरी आ पहुँचे। नदी के साथ लगा हुआ एक तिघड़ था, जिसके दोनों ओर गर्म पानी के सोते थे। एक स्थल पर से तो खूब पानी निकलता था और बहुत गर्म। दूसरी जगह पर पानी थोड़ा हा था।

तीर्थापुरी को भस्मासुर की पौराणिक गाथा के साथ जोड़ा जाता है। वहां की सफेद मिट्टी को भस्मासुर की भस्म कहा जाता है, वह प्रसाद रूप वहां से लाई जाती है, और मस्तक पर धारण की जाती है। उस मिट्टी में चूने तथा गन्धक का सम्मिश्रण है—शायद केलसियम सल्फेट ही है और समीपवर्ती पहाड़ भी देखने में अजीब है। वहां पर है तो पत्थर—परन्तु उनका आकार तथा निर्माण पत्थराई हुई हड्डियों का सा दीखता है। रंग तो हड्डी का सा नहीं, काला ही है।

भस्मासुर वहां पर भस्म हुआ हो या नहीं; यह तो कौन कहे, परन्तु मैं यह कह सकता हूँ कि उस भूमि का प्रभाव, वहां पर चलती हुई आकाशीय तरंगें किसी प्रकार की उच्चता को अथवा भद्रता को लिए हुए नहीं हैं। चाहे वह गन्धक का प्रभाव है, चाहे गर्म पानी का अथवा किसी के अमंगलमय संकल्प का, परन्तु वह भूमि तो मुझे बिल्कुल ही अशोभन प्रतीत हुई।

भस्मासुर की भस्म को मस्तक पर चढ़ाने का क्या प्रयोजन? यह मुझे समझ में नहीं आया। भस्मासुर की भस्म भी क्या मति-भ्रष्ट न कर देगी? ऐसा भय होता है।

हाँ। मुझे यह बता देना चाहिए कि तिब्बत में भूख बहुत बढ़ जाती है। पाव भर खाने वाला आधा सेर खाने लगे और फिर भी अपने को भूखा अनुभव करे तो कोई विस्मय नहीं। ठण्ड वहाँ बहुत होती है, बर्फानी पानी भी पाचन शक्ति को खूब तीव्र करता है, तिस पर रोज़ रोज़ का चलने का परिश्रम। हम लोगों को इस बात का पता नहीं था, अतः खाने पीने का सामान आवश्यकता से कम रहा।

ज्ञानिमा मण्डी में हम लोगों को आटा मिल जायगा और फिर तकलाकोट में, यह निश्चित ही था। दर्चिन की मण्डी कैलाश के पाँवों में है परन्तु वहाँ मिल ही जायगा' ऐसा निश्चयात्मक कहना कठिन था। मुझे जब इस बात की सूचना मिली कि सामान खत्म होने जा रहा है, तो मैंने यही उचित समझा कि बजाय एक या दो दिन के उपवास के यह अधिक भला होगा कि जितना है उसे इस प्रकार से बर्ता जाय कि दर्चिन में यदि कुछ प्राप्त न हो तो भी हम लोग ज्ञानिमा तक पहुँच सकें। भूखे तो चलना भी कठिन होगा। उसके लिए रोटियों का राशनिंग ही एक तरीका था। हिसाब लगा लिये गये और तीर्थापुरी से ही अमल शुरू हो गया।

प्रतीत होता है कि हमारे एक साथी उस राशन में भूखे रहे। प्रातः ही उनके चित्त की व्याकुलता फूट पड़ी, और उसके साथ ही, उनके मन की अन्य क्रियायें भी प्रगट हो गईं। वह एक अरुचिकर घटना थी। कितनों के चित्त उससे व्याकुल हुए और कितने ही मन उस साथी के प्रति सदैव के लिए मैले हो गये। मैंने अपना हाथ खींच लेना (यथा सम्भव) ठीक समझा। सारा मामला जल्दी ही सिमट गया।

जो क्षुधा यात्रियों को इतना व्याकुल करती है, उसके कारण तिब्बती लोग कितने व्याकुल होते होंगे और कैसे गुजर करते होंगे, उस वीरान में, इस पर आश्चर्य होता है। एक तो यह समझ लेना चाहिए कि जैसा प्रभाव गर्म स्थानों से जाने वालों पर पड़ता है, उस जलवायु का, वैसा वहाँ के निवासियों पर नहीं पड़ता। उन्हें भी भूख सताती है परन्तु साधारण रीति से। अभाव के कारण इच्छा बनी रहती है। सत्तू खाकर, भुना हुआ मांस खाकर और चाय पीकर उन लोगों के दिन कटते हैं। रोटी और खाजा (च्यूड़ा) उनके लिए कभी कभी प्राप्त होने वाले भोग हैं। इन्हीं के लिए वे तरसते है। और वहाँ के जानवर (मैं तो चंवरों को ही जानता हूँ) भूख को चुनौती देते हैं। जहाँ हम पड़ाव करते थे, वहाँ कहीं कहीं पर घास होती थी, वह भी नाममात्र को। कहीं कहीं बिलकुल ही न होती थी। उसी पर बेचारे २-३ घण्टे मुँह मार लेते थे। अन्धेरा होते ही तोपगे उन्हें बांध देता था, उस काली काली लम्बी खूँटी से बँधी हुई रस्सी से। चलने में वे खूब मजे से चलते थे। संभवतः क्षुधा पर विजय पाई थी उन्होंने, अथवा जैसे ऊँट कई दिनों पानी के बिना चल पाता है, वैसे ही यह चंवर की विशेषता हो कि बिना खाये वह दिनों तक चल सकता है।

तोपगे अपने घर के समीप ही था। मिस्सर वहां से दो मील होता है। वह सत्तू और मक्खनादि लेने घर गया। एक चँवर भी बदलना चाहता था। हम लोग दूसरे दिन जल्दी ही चलना चाहते थे जिससे रास्ता जल्दी ही कट जाय। परन्तु दूसरे दिन आठ बजे हम लोग प्रस्थान कर पाये। तोपगे देरी से लौटा था।

तीर्थापुरी में भी एक विहार है, छोटा सा। मन्दिर भी गुर्ग्यम के मुकाबले में नगण्य सा है। हमने वह विहार देखा था। लोग चवन्नी देकर घी का दीपक लगाते हैं--वास्तव में जलते हुए दीपक में ही घी डालते हैं। वे किनकी मूर्त्तियां थीं? मेरी समझ में तो यह आया नहीं।

तिब्बती लोगों के धार्मिक मन्तव्यों के विषय में मेरे मन में विशेष जिज्ञासा जागृत न हो पाई। डेविड नील की पुस्तक 'विद् मिस्टिक्स एण्ड मेंजीशियन्स आफ तिब्बत' मैंने पढ़ रक्खी थी। मेडम ब्लावट्स्की का 'आइसिज अनवेल्ड' भी देखा था। उससे जो कुछ जाना था, उससे और अधिक जानने की इच्छा नहीं थी। और ना, ही हमारे पास साधन थे और न समय ही। हमारा दुभाषिया ऐसे काम के सर्वथा अयोग्य था।

'ओम् मनि पेमे हुम्' का जाप—तोपगे भी प्रातः चलते चलते अपनी माला से किया करता था। उसके होंठ हिलते थे। माला टूट जाने पर वैसे ही वह जाप करता था। लामा तो डमरू को घुमाते हुए जपा करते हैं। यह 'ओउम् मणिपद्मे हुम्' का विकृत रूप है। लामा ही उनका इष्ट होता है। दलाई या ताशीलामा—यह मैं नहीं कह सकता। उसकी मूर्ति घरों में रहती और पूजा होती है। कैलाश को, और इसके अधिष्ठातृ देव को वह पूज्य मानते हैं। प्रत्येक परिवार, अपने जानवरों के सहित, वर्ष में एक परिक्रमा अवश्य करता है, यह मैंने सुना। यह परिक्रमा पैसे देकर दूसरों से भी करा ली जाती है।

कैलाश का प्रथम-दर्शन

(२०)

तीर्थापुरी से यात्रा की अन्तिम स्टेज आरम्भ होती है। यह हमारे लिए कितने महत्त्व की थी, इस बात का अनुमान आसानी से किया जा सकता है। और इसी यात्रा में डाकुओं का भी सब से अधिक भय रहता है। खिमलिंग, गुर्ग्यम, तीर्थापुरी तथा कैलाश यह रास्ता तिब्बत के रास्तों के प्रमाण से चलता हुआ रास्ता है हमारे पास किसी प्रकार का हथियार न था। एक ६ इञ्च बलेड वाला चाकू नरेन्द्र के पास था। यदि वह हथियार समझा जा सके। बुर्फु तथा मिलम से एक बन्दूक लेने की चेष्टा की थी, परन्तु लोगों ने हमें यूँ ही बहला दिया। अधिक आग्रह हमें भी अच्छा न लगा।

हमने डाकुओं के लिए और प्रबन्ध किया था। फालतू रुपया मिलम में जमा कर आये थे; वह हमें ज्ञानिमा में मिल सकता था। बचा हुआ तोपकू में दे आये थे, वह भी ज्ञानिमा में लेने के विचार से अपने पास बिलकुल थोड़ी रक़म थी और वह भी कई जगह कई तरीक़ों से छिपाई हुई। डाकुओं का हिस्सा गोविन्द वल्लभ जी के बटुए में रखा था। यदि डाकू मिल भी जायें तो उतने से उनको बहला दिया जाय। परन्तु ऐसा अवसर हीं हमें न मिला।

सारा रास्ता यूँ ही कट गया। हमारे कुछ साथी तो डाकुओं के हाथ पड़ चुके थे, पिछली यात्राओं में।

इस यात्रा का दूसरा त्रास हैं, नदियाँ, जिन पर पुल नहीं। वे वैसे ही पार करनी होती हैं। इतनी बड़ी हैं कि बह जाने का डर होता है।

प्रायः नमक वाली तुलसी तथा जाविन्त्री की केसरिया चाय पीकर सत्तू खाकर, बाँधा-बूँधी करके, हम तो तैयार खड़े थे। तोपगे के आते ही लदाई हुई और हम लोग चल दिये। आठ बज गये थे। यहाँ से कैलाश २३ पड़ाव समझा जाता है। हम तो साहस करना चाहते थे। दूसरे ही दिन हमारा विचार दूसरी गुफा (डिरफू) पहुँचने का था।

रास्ता बिलकुल मैदान था। उस दिन हवा की तीव्रता का भी अन्दाज आया. तिस पर बूंदे भी आई। ठण्डक भी अपूर्व थी। जैसे-जैसे कैलाश समीप आता, वैसे वैसे मानों शीत बढ़ रहा था। दोपहर के लगभग खुल गया। हम लोग पहिली नदी पर पहुँचे। वेगवती निर्मल धारा हमारे सामने चली जा रही थी। पहाड़ी नदी के पार करने में उचित स्थान सबसे अधिक महत्व रखता है और उससे कम, मजबूत लाठी। इनके बिना मुश्किल पेश आती है।

स्वामी जी पार निकल गये। कपूरीलाल और मैं भी पार हुए स्त्रियों की बारी आई। स्वामी जी तथा मुन्स्यारी के भोटिये के बल से वह भी पार हुई। यह भी एक परीक्षा थी जिससे हम पार हो गये।

हमारे ही साथ चलते थे, दो और व्यक्ति, जो मुन्स्यारी के रहने वाले थे। ससुर और दामाद थे। ससुर चंवर पर चलते थे

वे श्वास की बीमारी से पीड़ित थे। बेचारे किसी तरह से चले ही जा रहे थे। ये लोग हमारे साथ तोपकू से चले थे। तोपगे के चंवर पर ही वे भी चलते थे, अतः साथ अनिवार्य था।

कुछ खाया, शीतल जल का पान किया, और चल दिये। हम लोग आठ मील आ चुके थे। तोपगे के मन में तो यहीं पड़ाव करने की थी, परन्तु न जाने क्यों वहाँ पर उसने कुछ न कहा।

वही मैदान, वही समतल भूमि और वही दूर का पर्वतों का दृश्य बादलों से ढका सा। दो ढाई मील चले थे कि एक नाला आया। वहाँ लगभग ½ मील लम्बा घास का मैदान था। दूरी पर पानी की छोटी सी धारा भी बह रही थी जो बाद में दीखी चंवर जरा पीछे थे। हम लोग आगे बढ़े हुए थे वहाँ पर उस नाले के किनारे, हम रुक गये। घड़ी देखी तो अभी दो ही बजे थे। 'आगे चलेंगे ही' ऐसा परस्पर सोच रहे थे कि तोपगे आ गया। दो चार पहाड़ी के शब्द उसने भी सीख रखे थे। इशारा करते हुए उसने कहा 'यहीं मैठला'। मतलब था, यहीं पर पड़ाव करेंगे, आगे नहीं जायेंगे हमने इशारा किया 'आगे जायेंगे।' परन्तु वह तो दृढ़ था, आगे न बढ़ने के लिए। मैं उठा और उसे बाधित करने के विचार से चंवरों को हाँकने लगा, परन्तु वह हम पर बाजी ले ही गया।

आधा फरलाँग आगे बढ़ने पर मैंने लौटकर देखा कि तोपगे जमीन पर बैठा है और उसके इर्द गिर्द सभी बैठे हैं—गोविन्द वल्लभ—स्वामी जी, जीवन सिंह तथा दुर्गादत्त। उसने धरना दे दिया था। किसी प्रकार की युक्ति उस पर प्रभाव नहीं डाल रही थी। उसका कहना था कि चंवर दो दिन के भूखे हैं, मर

जायेंगे। आगे घास नहीं। आगे लगभग ३ मील में (यदि मेरी स्मृति धोखा नहीं देती) एक नदी थी और घास भी, परन्तु वह जाना ही न चाहता था। उसी की विजय रही।

तोपगे में क्रोध नहीं दीखता था। जरा सी खीज थी परन्तु वह भी एक विचित्र उदासीनता में, निराशा तथा परवशता के भाव में लीन हो रही थी। घर में बेचारा अकेला था। स्त्री मर चुकी थी, कन्या विवाहिता थी और पुत्र कोई था नहीं। वह घर गया था बड़ी आशायें लेकर, परन्तु उसके घर वाले, भाई बिरादर, दूर अपने जानवर लेकर गये हुए थे। न उसे सत्तू मिले थे न मक्खन। हम भी उसे नोटिस दे चुके थे कि वह अपना प्रबन्ध कर ले क्योंकि हमारी सामग्री कम पड़ रही थी। आन्तरिक क्षोभ उसके चेहरे पर झलकता था। मेरी तोपगे से खूब पटती थी। मुझे वह अच्छा लगता था और वह भी मुझे अच्छा मानता ही था। प्रायः रास्ता चलते, हम लोग एक दूसरे को बुलाते थे, प्रेम से। चार पांच शब्द जो तिब्बती के मैं जानता था, वह मैं कहता और वह भी उन्हें दोहरा देता था। तोपगे, बिसरवा, खंजम (अच्छे हो ?) ही हमारी प्रधान बातचीत की सीमा थी। आज वह नीरस दीख रहा था। उसने वचन दिया कि कल जितना चलना चाहो—चलना। वह रुकने को नहीं कहेगा। हम मान गये।

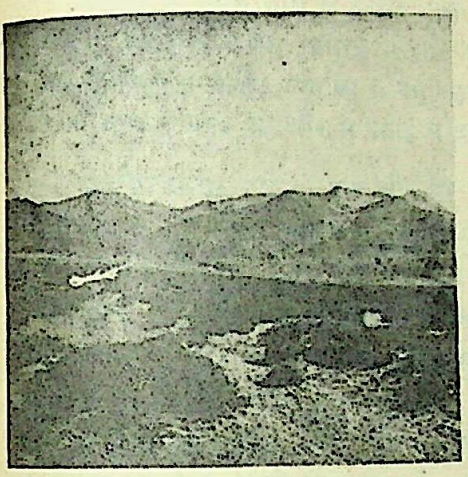
उसी मैदान में और आधा मील नीचे, उस जलप्रवाह के दूसरी पार डेरा डाल दिया गया। यह स्थान सिलचक कहलाता है। इस स्थान का अपना ही महत्त्व है। तम्बू परेड के बाद हम लोग अपने अपने तम्बुओं में थे। हालंग का शाक वहीं पर हमें मिल गया था और उसे-हमने कच्चा भी खाया। सब्जी भी

उसी की होने जा रही थी। तिब्बत में हरा शाक तो एक बहुमूल्य पदार्थ होता है। हवा बहुत जोर से चलने लगी। काफी दिन रहते ही मैं ध्यान के लिए बैठ गया।

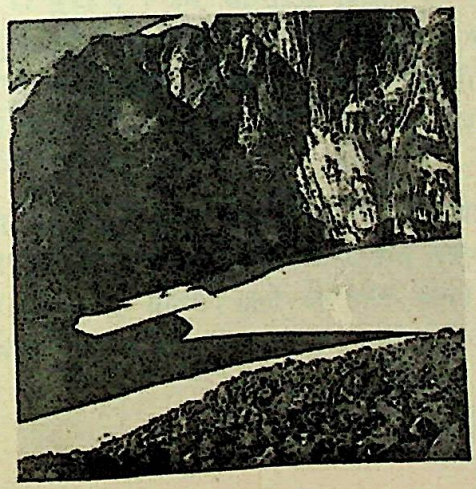
आज आँखें मूँदने पर विचित्र, प्रबल तरंगें चलती हुई अनुभव में आती थीं। ऊपर के केन्द्रों में विशेष क्रिया थी और हृदय में एक नूतन गुदगुदी सी। मैंने ध्यान समाप्त किया और गोविन्द वल्लभ जी से, जो मेरे पास ही बैठे थे कहा—'आज हम कैलाश के तेजोमण्डल (aura) में प्रविष्ट हो गये हैं।

तम्बू खोलकर सामने देखा तो पता चला। वह वेगवती हवा तो बर्फानी तूफान की संगिनी थी। इस पाव घण्टे में ही सामने की पर्वतमाला पर बर्फ पड़ गई और वह सफेद हो रही थी। बादल साफ हो गया था, और सूर्य अस्त होने को था। तोपगे तम्बू का परदा उठाकर बोला—"धेखला कैलाश !" मैं फड़क उठा। आज वह--प्राप्त हो रहा था जिसकी आशा को लेकर, इतने मीलों की यात्रा की थी, इन हिमाच्छादित पर्वतों के पार।

बाहर निकला। सामने पूर्व दिशा में धवल चोटी चमचमा रही थी। उस नीले काले काले आकाश की पृष्ठभूमिका में। साथ में दायें को दो चोटियाँ थीं बर्फ की, थोड़ी दूर पर ही और बायें को एक। उस अस्त होते हुए सूर्य के प्रकाश में, उस धीरे धीरे बढ़ती हुई अँधियारी में, वह उज्ज्वलता, बहुगुणित हो रही थी। वह दृश्य कितना अलौकिक था। केमरा निकाला और स्नैप लिया। वह फोटो उस सुन्दरता का संकेत मात्र देती है।



कैलाश दर्शन। एक और दृश्य।
(अध्याय २०)



गौरी कुंड। बर्फ की सफेद चादरें निर्मल जल में तैर रही हैं।
(अध्याय २४)

कैलाश के देखने मात्र से भीतर एक बिजली-सी दौड़ गई। भाव भी उमड़े और एक सन्नाटा भी हो गया। डायरी में मैं कुछ लिखता लिखता बाहिर गया था। वह वाक्य कठिनाई से पूर्ण किया, डायरी बन्द की और मैं आँखें मूँदकर बैठ गया!

अब तो भीतर गति ही कुछ और थी। मैं अपनी सुधबुध ही भूल गया। न ही, मुझे यह भान रहा कि मैं कहाँ हूँ। विचित्र ही आन्तरिक स्थिति को मैंने लाभ किया। बहुत ऊँचे चैतन्य के स्तरों में मैं स्थित हो गया। धीरे धीरे लगभग पाव घंटे के उपरान्त मुझे चैतन्य हुआ, वाह्य जगत के प्रति। बस, भीतर से यह भान हो रहा था कि मेरी यात्रा सफल हो गई! शंकर की, उस आदि गुरु की मुझ पर कृपा है और उसका बढ़ता हुआ प्रवाह मुझे कृतकृत्य कर देगा, अपने लिए ही नहीं, औरों के लिए भी। उस बीच के समय में क्या क्या अनुभव किया, इसे वर्णन करने में लेखनी भी थकती-सी है।

भूख समाप्त हो चुकी थी। जब आन्तरिक क्रियायें बड़े वेग से होती हैं तो भूख लुप्त हो जाती है, यह मेरा पहिले का भी अनुभव था। दीदी की जबरदस्ती के कारण थोड़ा खाया ही। कैलाश अन्धेरा हो जाने पर भी बड़ी देर तक दीखता रहा। इस दर्शन की खुशी में मेवा बाँटा गया।

रात को नींद बिल्कुल ही न आई। शरीर गर्म हो रहा था। और खूब जोर पड़ता हुआ अनुभव होता था, सभी ज्ञान तन्तुओं पर (साथ इतनी हलचल थी भीतर) मानो आन्तरिक जगत् में बिल्कुल एक नये आधार का, नई अवस्था का निर्माण होने जा रहा है।

जैसे तैसे करवटें बदलते रात बीती--वह रात बहुत लम्बी थी। जाड़ा भी बढ़ गया था, उस वर्फानी तूफान के कारण। प्रातः उठे तो ऐसा प्रतीत हो रहा था कि बुखार हो। पित्त का बहुत प्राबल्य था। हालंग के शाक ने भी गर्मी दिखाई थी। अंग शिथिल थे। स्नान करने का न तो साहस हुआ और न, ही वह उचित प्रतीत हुआ।

इस प्रकार की आन्तरिक क्रिया की तीव्रता ने यदि शारीरिक साम्य को बिगाड़ दिया तो कोई विस्मय की बात न थी। यह अनुभव मेरे लिए नया न था। जब शरीर पूरा साथ नहीं दे पाता, आन्तरिक गति का; तो आन्तरिक गति को जारी रखने का और शरीर में शीघ्राति शीघ्र परिवर्तन करने का और कोई उपाय ही नहीं। तभी मैंने इस बात को अनुभव करना आरम्भ किया।

———

कैलाश के चरणों में

(२१)

सोचा था कि दूसरी गुम्फा तक शाम तक पहुँचना चाहिये, अतः बहुत ही जल्दी चलना आवश्यक था। प्रातः जाड़ा भी खूब ज़ोर का था। बूँदा-बांदी भी थी, हवा भी थी। ऐसा लगता था कि मौसम कुछ नया ही रंग दिखायेगा, परन्तु यह ढंग बहुत देर तक न रहा। उस नदी पर पहुँचते २ जिसका मैंने पीछे निर्देश किया है, आकाश साफ होने लगा। वह नदी तीन मील से भी अधिक दूरी पर थी, संभवतः ५ मील पर रही हो। प्रतीत तो ऐसा ही हुआ।

यह नदी भी काफी वेगवती थी और चौड़ी--पिछली नदी से कहीं अधिक थी। मैंने तो चंवर का आश्रय लेना ही अच्छा समझा, पार हो गया। २ ३ माताओं को पार करने के प्रयास में स्वामी जी थक गये। चंवर को फिर भेजा गया। थोड़े ही समय में सभी लोग सकुशल इस पार आ गये। यहीं पर थोड़ा-सा प्रातराश हुआ। स्वामी जी ने नदियां पार कराने में, बहुत प्रशंसनीय परिश्रम किया था।

तोपगे को रास्तों का बहुत ही अच्छा ज्ञान था। यह हमें एक बार नहीं, अनेक बार बोध हुआ। हमारे अन्दाज तो कोरे काल्पनिक होते थे और उसके अनुभव पर आश्रित। न जाने

कितनी बार उसने ये नदियाँ पार कर रक्खी थीं और यह मैदान भी। नदी से ऊपर मैदान में जाने में तोपगे के बोध का हमें पूर्ण विश्वास हो गया। छोटे से छोटे रास्ते से और कम से कम चढ़ाई से वह हमें ऊपर वाले मैदान में ले आया। यदि हमने अपनी बुद्धि का अनुसरण किया होता तो धोखे में रहते।

रास्ते के परिश्रम से मेरा शरीर और शिथिल हुआ जा रहा था नदी के पार लगभग १ मील आये होंगे, जब चलने में मुझे कष्ट प्रतीत होने लगा। सवारी वाला चंवर तो खाली जा ही रहा था। मैंने उसे रोक लिया। और सवार हो गया। ठण्डी हवा शरीर के मानो आर-पार होती थी। टाँगें तो चंवर पर बैठने से और भी जड़जड़ाती थी--ठण्ड से ठिठुरती जा रही थीं। थोड़े २ बादल भी थे ही, कभी मन्द सी धूप निकल आती थी। लगभग १२ बजे आकाश बिल्कुल साफ हो गया। धूप चमकने लगी, यद्यपि ठण्डी हवा भी तेजी के साथ चलती थी। धूप बहुत प्रिय लगती थी। हवा के कारण ऊपर से कम्बल ओढ़ना तो आवश्यक था ही। उधर कैलाश की चोटी भी चमचमाती हुई सामने दीखने लगी और उसकी समीपवर्त्ती वर्फ से ढंकी हुई एक और चोटी भी। हम कैलाश की छटा में कदम आगे ही आगे रखते जा रहे थे।

मेरी दृष्टि जब २ कैलाश पर पड़ती थी, तब तब विचित्र ही प्रभाव होता था। एक बिजली सी दौड़ जाती थी और आन्तरिक क्रिया जो आगे ही प्रबल हो रही थी, और भी प्रबल हो जाती थी, अतः इच्छा होने पर भी कैलाश की ओर देखते रहना संभव न था। रास्ते में एक दो और फोटो लिए-कैलाश के।

धूप की तेजी के साथ २ मेरा बुखार भी बढ़ता जा रहा था, परन्तु किसी भी प्रकार का अन्य कष्ट न था। चंवर पर चढ़ने के कारण अवश्य ही कमर में अकड़न सी थी। एक बार लकड़ियाँ चुनने के बहाने विश्राम मिला और दूसरी बार लगभग १ बजे कुछ खाने पीने के बहाने से, एक नदी के किनारे।

इस शारीरिक शैथिल्य ने मन को और भी स्वच्छन्द कर दिया था। पार्थिव-स्तर से उतना ही अधिक मैं अपने को उठा हुआ अनुभव करता था। एक बजे तक शरीर भट्टी-सा तपने लगा।

हमें बताया गया था कि सिलचिक से पहिली गुम्फा जाना लगभग ११ मील होता है और वहां से दूसरी गुम्फा ४ मील ही है। परन्तु तिब्बत की सारी यात्रा में हमें कभी भी रास्ता इतना लम्बा नहीं लगा। रास्ता प्रायः बिल्कुल मैदान था। दिन भी अच्छा था। हम लोग प्रातः ६ बजे के चले थे; भूखे भी न थे, परन्तु दोपहर के बाद ही कुछेक को छोड़कर सभी में शिथिलता आने लगी। तोपगे के तो उस दिन और ही ढङ्ग थे। उसका मन मरा-सा था और वह क्षुब्ध भी प्रतीत होता था। चंवर तो उससे हंकाये नहीं बनते थे। आगे वह मुस्कुराता था, मुझसे प्रेम से बोलता था। आज चिड़चिड़ाहट थी। मैंने सुबह ही जब उसे चंवरों को तेज हांकने को कहा था तो उसका जला-कटा उत्तर था, 'चंवर हैं, घोड़े तो नहीं' मैं तभी समझ गया था आज पारा गर्म है। कल तो बेचारे को दोपहर के तीन बजे तक चाय भी नसीब न हुई थी। हमारे कल के व्यवहार ने उसे क्षुब्ध किया था। जब मैं चंवर पर चढ़ा हुआ था, तो मैंने उसके मन को बहलाने का बहुत यत्न किया, परन्तु वह बहुत गंभीर था।

सवेरे से चलते २ आफत हो गई। पहली गुम्फा के कोई निशान ही न थे। शिथिलता सभी को प्रतीत होने लगी थी। ४ बजे तक भी कैलाश अभी बहुत दूर दीखता था। धीरे २ संध्या होने को आई। मातायें जगह २ बैठती थीं। नरेन्द्र भी श्रान्त थे। कपूरी लाल भी कुछ वैसे ही थे। स्वामी जी और गोविन्दवल्लभ चले जा रहे थे आगे आगे।

पहिली गुम्फा पहुँचने के लिए (तीर्थापुरी की ओर से) एक घाटी पार करना पड़ता। कैलाश के पश्चिम की ओर जो पर्वत माला है, उसको कहीं से पार करके ही हम लोग कैलाश-पर्वत वाली घाटी में पहुँच सकते थे। दिन भर के चलने के बाद चढ़ाई कितनी मुश्किल प्रतीत होती है। यह समझना कठिन नहीं। माताओं को तो यह बहुत खली। मुझे भी बहुत थकावट प्रतीत हो रही थी। पैदल चलने की चेष्टा की परन्तु इतना बल न था। आखिर चंवर का आश्रय लिया। इस चढ़ाई में कैलाश आँखों से ओझल हो जाता है, लगभग १ मील के लिए। धीरे धीरे चढ़ाई काटकर घाटे पर पहुँचा। कैलाश बिलकूल ही समीप में दीखता था। कितना विशाल, कितना धवल और कितना वैभव पूर्ण। हृदय बार बार झुकता था भावों से और मस्तक भी। आखिर हम कैलाश पहुँच गये। यह कितना उल्लास का विषय था। वह आभा अलौकिक थी, परन्तु हमें तो अभी और समीप जाना था।

इस घाटे से नीचे उतरना होता है, घाटी मे। बेढ़ब रास्ता और बहुत ही खड़ा उतार। चंवर पर बहुत ही सचेत होकर बैठना होता है, अन्यथा वह धराशायी कर देता है सवार को। दीखने में थोड़ा, परन्तु उतरने में लम्बा सदैव की भाँति, यही अनुभव था उस रास्ते पर भी।

घाटी में एक नदी बहती है। उसके किनारे किनारे रास्ता उत्तर की ओर जाता है। नदी के पार पूर्व दिशा में एक पवत की दीवार-सी वहुत ऊँची काली काली चट्टानों वाली, साथ साथ चलती है। ऐसा लगता है मानो किसी किले की दीवार हो। उसी दीवार से ऊपर को उठा है—कैलाश का पर्वत। जैसे मन्दिर का ऊपरी गोल हिस्सा (डोम) होता है, ठीक वैसा ही दीखता था। वह हिमाच्छादित है। सूर्य पश्चिम में था। उसका प्रकाश तो बादलों में से छन कर आने के कारण, चमचमाहट पैदा नहीं कर रहा था। उस दृश्य में एक कोमलता थी।

परन्तु मेरी तो गति ही विचित्र हुई जा रही थी। मैं ज्यों ही कैलाश पर दृष्टि डालता था, मस्तिष्क में ऊपर के केन्द्रों में बड़े वेग से क्रिया होने लगती थी। मैं अर्धचेतन सा हो जाता था। मुझे आँखें वन्द करनी पड़ती थी। कमर की पीड़ा और जीन के घर्षण के कारण हुआ घाव ही फिर सचेत करते थे। सचमुच ऐसा लगता था—मानों यह सभी अनुभूति स्वप्न में हो रही हो- वह नदी की आवाज उस ऊँचाई के वातावरण में बहुत मन्द प्रतीत होती थी और अजीब सी। हवा की सूक्ष्मता का प्रभाव शब्द पर भी पड़ता है। उसमें भी एक निस्तब्धता आ जाती है। धुरों को पार करने में भी मैंने यही अनुभव किया था और पिण्डारी में भी। दाईं ओर सामने कैलाश का धवल-शिखर, साँध्य प्रकाश, नदी की वह अलौकिक, मन्द मन्द गड़गड़ाहट और बाँई ओर पर्वत की ऊँची खड़ी दीवार पत्थरों से ही सटी हुई। रास्ता मृदुल घास से ढँका था। और बीच बीच में बड़ी-बड़ी चट्टानें। वह अलौकिक भूमि थी और वह अलौकिक ही दृश्य था।

मातायें बहुत पीछे थीं। हम लोग थोड़ी देर को रुके। फिर आगे बढ़े। शरीर थक रहा था और मन भी विश्राम के लिए उतावला था। आँखें पहिली गुम्फा के निशान ढूँढ़ ढूँढ़ कर थक गईं। वह घाटी का चलना मील भर रहा होगा परन्तु चार मील से भी अधिक लगा। लगभग ६½ के हम लोग पहिली गुम्फा के नीचे पहुँचे। कैलाश की चोटी वहाँ से सीधे आकाश मार्ग से तीन मील से कम होगी। हम कैलाश के चरणों पर थे।

आगे चलने का प्रश्न ही न था। मैं तो चंवर से उतर कर ढेर हो गया। गुम्फा देखने की न ही उत्सुकता थी और न बल। मेरे लिए तो कैलाश ही सब कुछ था।

मातायें पहुंची। तम्बू लगे। मेरे लिए माताओं ने जल्दी ही बिस्तर बनाया और मैं पड़ रहा। मैं वैसे भी अपने को बालक प्रतीत करता हूँ, परन्तु तब तो मैं अपने को बिलकुल बच्चा ही प्रतीत करने लगा। वह चेतना मुझमें कई दिन तक तो बहुत प्रबल रही, परन्तु जाती जाती भी स्थायी प्रभाव छोड़ गई।

दवाई लेने का मेरा स्वाभाव नहीं। मैं तो अपने रोग को स्वयं जानता था और उसकी अवधि को भी दवाई लेने से मैंने इन्कार किया और कह दिया कि दूसरे दिन प्रातः तक बहुत कुछ ठीक हो जाऊँगा। मेरी बीमारी का इलाज था, घी-खांड और रोटी-नमक का अभाव। वही किया गया।

हम बहुत ऊँचाई पर थे। नदी की समीपता भी थी और बर्फ की चोटियाँ समीप थीं। १६००० से अधिक ऊँचाई रही होगी। पानी खूब ही ठण्डा था और हवा भी। जाड़ा खूब हुआ।

कैलाश की परिक्रमा

(२२)

कैलास के सामने वाले पश्चिमी पहाड़ की चढ़ाई में एक ग्रामीण मकान सा था। झंडियाँ लगी हुई थीं। नीचे से तो बहुत छोटा सा दीखता था, परन्तु कुछ बड़ा रहा होगा। वही पहिली गुम्फा थी। देखने वालों ने बताया कि उसमें मूर्त्तियाँ थीं, परन्तु गुर्ग्यम की गुम्फा के मुकाबिले में वह कुछ भी न था।

कैलाश की प्रदक्षिणा के लिए यहाँ से दूसरी गुम्फा जाना होता है। आज का हमारा उद्धेश्य दूसरी गुम्फा ही थी, जो वहाँ से केवल चार मील ही थी। आराम--सहज से हम लोग तैय्यार होकर ८½ के लगभग चले होंगे। वह चार मील का, नदी के किनारे किनारे का रास्ता कितना रम्य था कैलाश की छाया हम पर थी। मानों हम शंकर के चरणों में चल रहे हों। एक विचित्र संतोष था और अलौकिक शान्ति। प्रातः के बाल रवि का आतप तो उस समय को और ही दिव्यत्व प्रदान कर रहा था। लगभग २॥ घण्टे में हम वहाँ पहुँचे।

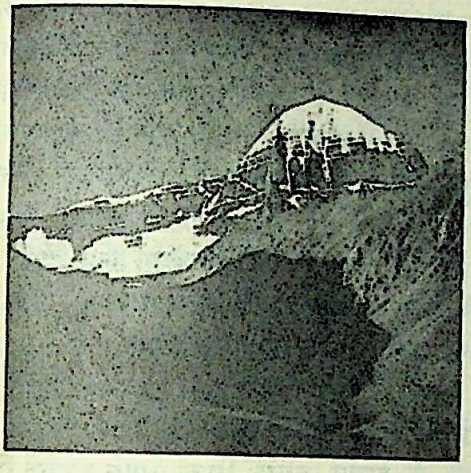
मेरी तबीयत प्रातः खूब अच्छी हो गई थी। बुखार थोड़ा ही बाक़ी था। शरीर भी हल्का हो रहा था। विश्राम के लिये दिन भर मिलने वाला था।

दूसरी गुम्फा नदी तट से इतनी ऊँचाई पर नहीं है जितनी कि पहिली। रास्ता भी चँवरों के चल सकने लायक था और स्थान भी काफी बड़ा था। अतः गुम्फा में ही डेरा करने का निश्चय हुआ। तम्बू परेड से छुट्टी मिली। तम्बू को खोल कर धूप अवश्य लगवाई गई।

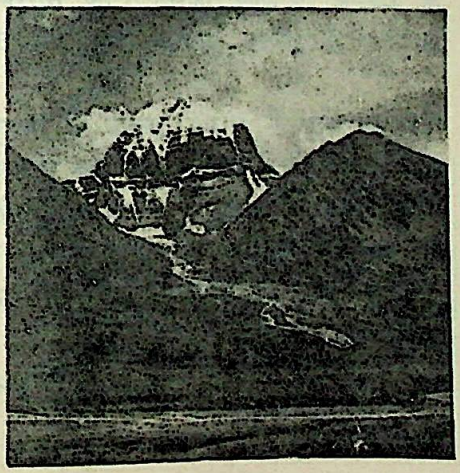
दूसरी गुम्फा कैलाश की परिक्रमा में विशेष महत्व का स्थल है। परिक्रमा के पथ में सभी स्थानों की अपेक्षा यहाँ से कलाश-समीपतम होता है। सामने ही दीखने में तो सीधा मील भर होगा परन्तु दो मील तो होगा ही। कैलाश की चोटी चमचमाती है। वह पर्वत की दीवार सी रास्ते में उधर ही समाप्त हो गई थी। यहाँ तो नदी से कैलाश के चरणों तक छोटे पत्थरों की ढाल ढाल जाती है, नदी के उस पार; और चढ़ाई भी कठिन न थी। दिल उछलता था वहाँ, ठीक चरणों में पहुँचने को--जहाँ से गोलाकार हिमाच्छादित भाग आरम्भ होता है। परन्तु शरीर में इतना बल न था। इस गुम्फा की चढ़ाई को भी मैं तो चल कर न चढ़ सकता था। चँवर अकेला जा नहीं सकता। घोड़े का प्रबन्ध नहीं था। समय तो था दिन भर का पर लाचारी थी। जिनके बल था उनके उमंग न थी। आखिर खूब अच्छी धूप में एक फोटो लिया। आज उस स्थान का और उस अपूर्व दृश्य का वही एक मात्र स्मारक है।

दोपहर तो हमें उस घर में जमते जमते हो गई थी।

दोपहर के उपरान्त खाना पीना हुआ। कुछ कैलाश को देखा। धूप तापी और बाकी समय बिस्तर में जितने कपड़े थे उन्हें पहन कर ओढ़ कर लेटा रहा। वह विश्राम बहुत आवश्यक था।

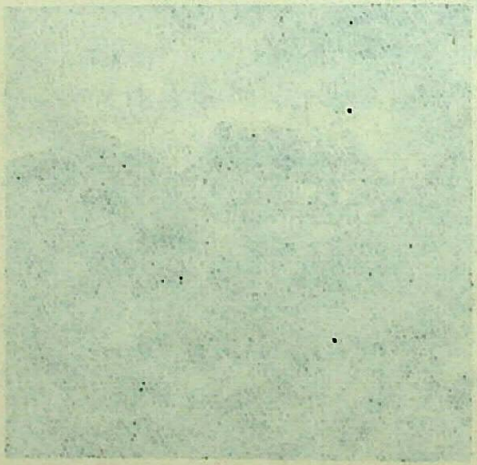


कैलाश दर्शन,
दूसरी गुम्फा से।
(अध्याय २२)



कैलाश दर्शन गौरी
कुंड से पूर्व।
(अध्याय २३)





आन्तरिक क्रियाओं में साम्य आता जा रहा था। कैलाश का भान तो सतत था ही और उसके अधिष्ठातृ चैतन्य शङ्कर का भी। उसकी समीपता को भी मैं सतत अनुभव कर रहा था परन्तु भीतर बिल्कुल शैथिल्य था। पैसिविटी (Passivity) थी, अतः भीतर की क्रियायें बेरोक चलती थीं। आज वह सब सोचने में कितना अजीब लगता है।

यहाँ मुझे तिब्बती लोगों के बारे में एक बात बता देनी चाहिये। वे लोग बहुत गन्दे रहते हैं। जीवन में कभी नहाते हों, यह मुझे पता नहीं। कपड़े भी कभी धोये जाते होंगे, इसका भी तो विश्वास करना सहज नहीं। हमने तिब्बत में इतने दिन व्यतीत किये परन्तु कभी भी किसी तिब्बती को कपड़े धोते अथवा नहाते नहीं देखा। तोपगे किसी समय सफाई के लिए पानी के पास जाता था, ऐसा मालूम नहीं हुआ।

वैसे तो ज्यों ज्यों ठण्डे देशों में जाते हैं लोग प्रायः अधिक गन्दे मिलते हैं। कुछ तो इसका कारण ठण्ड ही है। प्रेरणा ही नहीं होती पानी के बरतने की। उसका स्पर्श ही ठण्डक के कारण दुःखदायी होता है। दूसरा कारण, सफाई के मूल्य का अज्ञान भी है।

वहीं पर दूसरी गुम्फा में बाहर, मकान के साथ लगी टट्टी बनी थी। वहाँ पर मल ढेर था। उस ठण्डक में भी उससे बदबू आती थी। परन्तु प्रतीत होता था कि न वह टट्टी देखने में किसी को खलती थी, न ही बदबू। शायद भेड़ बकरियों के सतत संग से, नाक की शक्ति कम हो जाती है। तिब्बती बकरों की "बुकरैन" तो अल्मोड़े के प्रदेश में प्रसिद्ध है। सफाई करवाये बिना हमारी तो वहाँ गुजर असम्भव थी।

तिब्बत की गुम्फायें कच्ची ईंटों से बनती हैं, जैसे पञ्जाब के देहातों के कच्चे मकान। न तो यहाँ पक्की ईंट बनने के साधन और न फूंकने के। और वर्षा बिल्कुल कम होने से, वे बहुत दिन तक टिके भी रहते होंगे। पत्थर का मकान बनाने में उपयोग हुआ, हमने कहीं नहीं देखा। सभी मकान मिट्टी के ही देखने में आये, उस प्रदेश में।

गौरी-कुण्ड की दिशा में

(२३)

गौरी-कुण्ड में स्नान करने के इच्छुक यात्री के लिये रात्रि दूसरी गुम्फा में व्यतीत करनी अनिवार्य हो जाती है। तभी तो हम लोग पहिले दिन चार ही मील चल कर रुक गये थे दूसरी गुम्फा से गौरी कुण्ड बहुत ऊँचाई पर है। मार्ग चढ़ाई का है। प्रातः ही पहुँच कर स्नान हो सकते हैं, अन्यथा वायु तथा वर्षा का भय रहता है।

दूसरी गुम्फा को नन्दीफू भी कहते हैं। जाड़ा उस रात भयंकर था। हम लोग तो मकान में थे। १४ व्यक्ति एक ही कमरे में सो रहे थे। वायु भी आर पार न जा सकती थी। अतः रात को जाड़ा नहीं मालूम पड़ा। प्रातः बाहिर निकलते ही भान हुआ। पानी के स्पर्श से तो हाथ पाँव अकड़े जाते थे। हवा भी बर्छियों की तरह लग रही थी मानो शरीर में गहरे घाव करती हो। हम लोग बहुत जल्दी ही दूसरी गुम्फा से चल दिये।

ज्वर मुझे आज भी था ही, यद्यपि कम। ९९-५ रहा होगा परन्तु कमजोरी बहुत प्रतीत हो रही थी। मैंने थोड़ी दूर चलने का साहस किया। नदी तक उतरा, फिर कुछ मैदान रास्ता था, वह भी चला, परन्तु चढ़ाई लगते ही चलने में असमर्थ हो गया। वहीं एक पत्थर पर बैठ कर प्रतीक्षा करने लगा चंवरों की। साथी सभी आगे निकल गये। मैं चंवर पर चढ़ कर आगे बढ़ा।

पर्वतों में दृश्य-परिवर्त्तन बहुत होता है। दर्शक की स्थिति के थोड़े से बदलाव से भी दृश्य में बहुत परिवर्त्तन हो जाता है। कैलाश के दर्शन भी नये नये होते जा रहे थे, हमारे कदम कदम आगे बढ़ने में, दृष्टिकोण के बदलाव के साथ भिन्न-भिन्न पक्ष आँखों के सामने आते थे—सतत नूतन मानो अनन्त देव के अनन्त विभूतियाँ आँखों के सामने फिर रही हों। बालरवि का प्रकाश तो दृश्य को और भी दिव्य बना रहा था।

गौरीकुण्ड की ऊँचाई १८५०० कही जाती है। कैलाश की चोटी लगभग २२००० है। हम लोग चढ़ते चले जा रहे थे। लगभग १७००० की ऊँचाई. पर हमने कैलाश की घाटी वाली नदी को पार किया होगा, उस पुल से।

हम लोग आधा रास्ता अर्थात १३ मील के करीब आये होंगे कि दाहिनी ओर एक नदी की मन्द कलकल मेरे कानों में पड़ी। उस कलकल में एक विचित्र जादू भरा था। उसका प्रभाव सीधा हृदय पर पड़ता प्रतीत हुआ। दिल बैठने लगा और अंग शिथिल होने लगे। मैंने सोचा-अभी ठीक हो जायगा अपने आप ही, परन्तु वह बढ़ता गया और मेरा बल घटता गया। आखिर यह नौबत आई कि मैं संज्ञाशून्य होने लगा और चंवर पर भी अपने को बैठा न रख सका तो बाकी बची शक्ति और संज्ञा को समेट मैंने, पुकारा 'जीवनसिंह! जीवनसिंह!!, मैं उतरूँगा' वाणी में कम्प था, दुर्बलता लक्षित हो रही थी। मुझमें इतना भी सामर्थ्य न था कि स्वयं उतर जाऊँ। फिर पुकारा 'जीवनसिंह!' वह सहायता को आया। मुझे उतार कर उसने भूमि पर छोड़ा। मैं वहाँ लेट गया। पल भर के लिए संज्ञा विलीन हो गई। और फिर जैसे नींद से जगाते हैं, मैं जगा। शरीर पर ठण्डा पसीना दौड़ गया

था और शरीर रक्त शून्य-सा प्रतीत होता था। सामने कैलाश की चोटी चमचमा रही थी उस संज्ञा शून्यता के अनन्तर एक विचित्र संतोष हुआ। ऐसा लगा-मानो मैं देव के चरणों पर पड़ा हूँ और उसने मुझे अपनी गोदी में उठाया है! बुखार मुझे छोड़ चुका था फिर न लौटने के लिए।

थोड़ी देर विश्राम किया। जीवनसिंह ने बांह पकड़ी और मुझे थाम कर थोड़ी दूर ले आया। वहाँ सामने धूप थी और साथी रुक रहे थे। मेरे रंग ने जो पीला पड़ चुका था, उनको बता दिया कि क्या हुआ है? दीदी पछताईं कि वह पीछे मेरे साथ साथ क्यों न आई। बादाम तथा मुनक्कों ने जान में जान डाली। मैं चंवर पर चढ़ने लायक अपने को अनुभव करने लगा। फिर चढ़ा और चल दिया। सभी लोग आगे बढ़े।

इस घटना ने (संज्ञाशून्यता ने) मुझमें एक नूतन चैतन्य की स्फूर्त्ति कर दी थी। शरीर का भान मुझे बहुत कम था! वह दिव्य भूमि, लगभग १८००० की ऊँचाई, बगल में कैलाश, प्रवाहित जल की कलकल और वह विशुद्ध वातावरण। मेरा हृदय भाव से भर गया। कैलाश की महिमा का भान हुआ। वह एक बोध था जो अभिव्यक्ति मांगता था परन्तु वहाँ यह संभव न था। न मुझमें शक्ति थी और न ही अवसर। लगभग इस घटना के सप्ताह-भर बाद जब मैं भारत में प्रवेश कर चुका था और अल्मोड़े के रास्ते पर था, अल्मोड़े से लगभग १३० मील की दूरी पर, रात्रि के समय काली नदी के तट पर, जब सभी निद्रादेवी की गोदी में थे, मुझे उसी चैतन्य का भाव फिर प्राप्त हुआ, मैंने अपने को वहीं पाया और लिखा-अंग्रेजी में :—

TO KAILASH

Thou Rock of ages !
O stillness incarnate !
Speaking the love of Infinite Divinity You stand
Kailash ! O Mount Divine !

The beloved abode
Of Shiva—the consciousness divine
Which loves and lifts
Through ages and ages !
Kailash ! O Mount Divine !

Without a sight of thee
None could know
What pristine purity is and what
Sublime beauty—The fullness of splendour
That awakens dreams, and haunts
The seer over years and years

Thy sight sends a thrill
Through my entire being
And transports me as naught else has dore
It fascina es —nay, bewitches,
And I am lost unconscious
To all that surrounds
And even my very self.

You stand there—The sentinel
Of ages past and of ages to come,
Drawing to thee pilgrims
From distant lands, across

The Himalayan ranges;
The snows and winds whispering
Death into their ears—
Yet as under a spell they draw on to thee
Through the ages.
Kailash ! O Mount-divine !
Silvery dome of the Shivite Temple
That nature in her love has consecrated to the Lord,
All majestic and dominating all that is surveyed,
At once lovely and dreadful in thy Supreme grandeur
To thee I bow,
Kailash ! O mount divine !
Words fail to express my heart.
There is a quaintness and sublmity which eludes
the pen·
Kailash is inexpresible like the Shiva—the infinite
Divine !
Kailash is Shiva embodied !
The unseen, Deity receives the pilgrims obeisance'
And mutely blesses, showering His graces bounteously,
Only a few sensitive hearts feel,
The presence and also the touch
That lifts and deifies, more than
The philosopher's stone For it bestows the gift of life
My Love to Him and all reverence
My Life to Him and all activity !
My heart flees to the mount Divine and its Deity—
The Shamakars—All Peace and love—the

Mount of knowledge which lifts and perfects.
My all at the feet of the lord Divine.

What Seek I ?
Only to be His and in fullness
Ever to abide in Him—
To abide in a union where duality is not,
Where I am in Shiva, and Shiva is in me—
We are one in twain and two in one—
Nay, closer still where Shiva is
And I am not, as it were.

Shiva, my Lord ! I sing to thee
Out of the fullness of heart
That out flows in loveful glee
And in reverence bends to thee

हिन्दी भाषान्तर :—

युग युगान्तर के अचल !
हे मूर्ति मती ! निस्तब्धता ।
अनन्त दिव्यत्व की भाषा के भाषी
ओ । दिव्य गिरि शेखर, कैलाश !
तुम हो शिव के प्रिय निकेतन,
उस युग २ में उत्थान कारिणी
शैवी प्रीतिघन चेतना के—
ओ । दिव्य गिरिशेखर, कैलाश !
बिना तुझे देखे

कौन जान पाये विशुद्ध पवित्रता को
और विशद सौन्दर्य को

और उस वैभव के पूर्णत्व को
जिसे एक बार ही निहारना स्वप्न बन-बन कर
दर्शक को उत्कण्ठित करता है,
वर्षों और वर्षों तक।
तेरे दर्शन से ही मेरे गात में
एक लहर दौड़ गई।
तुम्हारे उस प्रथम दर्शन ने मुझ पर जादू-सा डाला।
मैं आत्मविस्मृति के गर्भ में लीन हो गया,
और सभी कुछ मेरे चैतन्य पटल से मिट सा गया।
अतीत युगों और आगामी युगान्तरों के
सन्तरी बने तुम खड़े हो।
अतिदूर प्रदेशों से यात्रियों को तुम खींचते हो,
उन घाटों के भी पार जहाँ मृत्यु का संदेश लिये बर्फ रहती है
और पवनें चलती हैं।
तेरे मोहन मन्त्र से बँधे यात्री चले ही आते हैं,
युग युगान्तरों से, तेरी ओर।
शैव मन्दिरों के रजतमय शेखर।
प्रकृति ने प्रभु प्रीति से तेरा निर्माण किया है।
तेरी आभा महान् है, और शोभा भी,
चारों ओर तेरा ही साम्राज्य है
एक दम से तुम रम्य हो और भयावह
तुमको मेरा नमस्कार।
ओ। दिव्य शेखर कैलाश।
बेचारे शब्द मेरे हार्दिक भावों को कहें तो कैसे?
तेरी महिमा और तेरा वैचित्र्य—दोनों लेखनी से परे है।

शिव की भाँति कैलाश भी वाणी के अगोचर है।
कलाश मूर्तिमान शिव ही तो है।
वह अदृश्य देव ! यात्री के प्रणाम को स्वीकार करता है
मौन ही वह आशीष देता है, और
औढ़रदानी झोली भर देता है।
कुछ संवेदन शील हृदय ही उसकी सत्ता को अनुभव कर
सकते हैं।
और उसके स्पर्श को भी।
स्पर्श तो दिव्य कर देता है और जीवन भी देता है
पारस तो सोना ही बना सकता है।
मैं अपनी श्रद्धा तथा प्रीति उसे अर्पण करता हूँ
मेरा जीवन तथा अखिल चेष्टायें उसी के चरणों पर।
मेरा हृदय उमड़ता है कैलाश के प्रति
और उसके अधिष्ठातृ देव शंकर के प्रति--
प्रीतिमय तथा शान्तिघन, शमकर।
उत्थापक तथा पूर्णत्व प्रदायिनी चेतना !
मेरा सर्वस्व उसी आदि-गुरु को अर्पित है।
मैं चाहता क्या हूँ ?
केवल मात्र,
उसका हो जाना, और
पूर्णरूपेण उस ही में निवास करना।
ऐसा मिलन जिसमें द्वैत की गन्ध भी न हो।
दो होते हुए भी एक हों हम
और एक होते हुए भी दो--
नहीं, नहीं जिसमें शिव ही शिव ही शिव हो—

केवल शिव हों, मैं न हूँ।
भक्तिभाव से मस्त हुआ,
मैं गान देव यह गाता हूँ;
श्रद्धा से कर शिर अवनत मैं
शरण तेरी शिव! आता हूँ।

———

वह दिव्यस्थल

(२४)

हम धीरे २ वह चढ़ाई चढ़ते चले गये। एक पहाड़ हमारे तथा कैलाश के बीच में आता चला जा रहा था, जैसे २ हम गौरी-कुण्ड की ओर रास्ता चलते थे। वहाँ पत्थर ही पत्थर थे, छोटे और बड़े। उन्हीं पर से होकर रास्ता जाता था और रास्ते पर कई स्थलों पर पानी की छोटी २ धारें भी बहती थीं। बहता २ पानी ऊपर से बर्फ हो जाता था और चंवरों तथा आदमियों के पाँव पड़ने से वह चर्र-चर्र करती हुई चूरा हो जाती थी। ठण्डक की इससे पूरी कल्पना की जा सकती है।

गौरी कुण्ड के पास इधर जरा तेज चढ़ाई लगती है, लगभग आधे मील की और यहीं पर कैलाश की उज्ज्वल चोटी भी उस पर्वत के पीछे छिप जाती है। मन ही मन कैलाश को नमस्कार करते हुए विदा लेकर हम आगे बढ़े। वहाँ पर पर्वत सभी चकना चूर हुई चट्टानें हैं, पत्थरों के ढेरों के ढेर हैं और कई स्थलों पर ऊंचाई में और गहरे में जहाँ धूप कम आ पाती है, हिमशिलायें दिखाई पड़ती हैं। इस वर्ष तो जाड़ों में बर्फ बहुत ही कम पड़ी अन्यथा यह सारा रास्ता—दूसरी गुम्फा से गौरीकुण्ड तक का बर्फ से पटा रहता है।

आखिर हम उस घाटे पर पहुँच गये। वहां पर एक विशाल शिला थी, पताकायें लगी हुई थीं और एक रस्सी पर कितने ही रंगबिरंगे चिथड़े बंधे थे और ऊन भी। इसी के नीचे समीप ही गौरी कुण्ड है। वहां से वह दिखाई नहीं पड़ता।

तिब्बतियों के लिये तो आजकल गर्मियाँ हैं। वे बर्फों में जीवन व्यतीत करने वाले, आज कल के जाड़े को क्या समझते हैं? हमारे रास्ते में ही तो एक तिब्बती हमें मिला था। उसने अपने कोट से एक बांह निकाली हुई थी, जिससे उसकी छाती और शरीर के कुछ भाग खुले हुए थे। उन पर वह धूप तो पड़ रही थी लेकिन ठण्डी हवा भी। वह अपना अंगूठा मुँह की ओर ले जाता और इशारे से हमें कुछ कहता था—वह खाने को माँग रहा था। वहां मांगने का यही तरीका है—अंगूठा दिखाते हैं! उसके दूसरे हाथ में भाला सा था। अस्तु।

उस स्थान पर ज़रा देर विश्राम कर, सभी लोगों के आ पहुँचने पर हम नीचे उतरें। ज़रा सा ही जाने पर गौरी कुण्ड दृष्टि गोचर होता है। सचमुच वह दिव्यस्थल प्रतीत होता था! मानों देवताओं ने अपने रमण के लिए ही वह सर बनाया हो। भले ही मान सरोवर की तुलना में वह कुण्ड सा लगता हो, परन्तु वास्तव में वह सर है, झील है। कुण्ड कहना तो उसका तिरस्कार करना है। धीरे धीरे हम पानी के किनारे पहुँचे—पूर्वीय तट ही हमने बैठने के लिये चुना।

जल स्फटिक की भाँति निर्मल था और उस पर बीच में बर्फ की पतली धवल चादरें तैर रही थीं। वह देखने में—बिलकुल चादरें सी थीं, मानों किसी दर्जी ने सीधी रेखायें काट दी हों। उस जल में, बाल-रवि की रश्मियों से आलोकित, काली काली

शिलाओं की पृष्ठभूमिका में, जो सामने वाले पर्वत का अंग थी, उन हिम की चादरों की धवलता कई गुणा हो गई थी। वहां का वातावरण, अछूती पवित्रता को प्रगट कर रहा था। १८५०० फीट की ऊँचाई में वायु कितनी विशुद्ध तथा पतली होती है। वहां पूर्ण निःशब्दता थी। समीप में उस घाटे के दूसरी ओर बहती हुई नदी की कलकल वहां न सुनती थी। सामने की ओर ऊँचे और खड़े पहाड़--दीवारें-सी बने थे, उस सरोवर के लिए। वह विशाल था। उसकी लम्बाई जो पूर्व-पश्चिम थी, एक फर्लांग के कुछ ही कम हो शायद, और चौड़ाई तीन चौथाई रही होगी।

वहां पहुँचते ही मन आह्लादित हो उठता है। एक कृतकृत्यता का सा भान होने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम देवभूमि में आ गये हैं। कभी कोई यहाँ आता होगा, इसका भान हमें तो नहीं हुआ। संसार की दृष्टि से, मानव के दूषक-स्पर्श से, और किसी प्रकार के हीन संकल्प से, यह स्थल सर्वथा वर्जित है।

मेरा हृदय तो जगज्जननी महाशक्ति की ओर उमड़ उठा। वह सचमुच "पार्वती चेतना है। पर्वत उच्चता का सूचक है। वह माता होते हुए भी सतत कन्या है, अस्पृष्ट पवित्रता है। वह सदैव सती है। और वह शैवी है। यह सर तो उसी के योग्य है। उसमें नहाना, इसका स्पर्श करना, मातृ चेतना से ओत प्रोत होना है। माँ के दुग्ध को पानकर, स्तनों से, जैसे बालक छक जाता है। वैसे ही तो मैं भी आज इस जल के स्पर्श से, इसके मार्जन तथा पान से उस चेतना से आप्लावित हो जाऊँगा! माँ की कृपा तो मुझ पर है परन्तु आज उसके अतिशय का अनुभव होगा" इस भावना में कितना संतोष है। और कितना गम्भीर अर्थ छिपा है।

वहां उस समय वायु भी वेगवती न थी। मन्द समीर मात्र था। आठ बजे का समय था। आकाश निर्मल व नील था। सूर्य न अतितीक्ष्ण प्रतीत होता था, न मन्द। धीरे धीरे लोगों ने स्नान का आयोजन किया। मैंने डुबकी लगाना तो उचित न समझा। कपड़े खोल कर उस जल को शरीर के अंग अंग पर डाल करके, धोता गया। कैसा शीतल था और कितना प्राण से पूर्ण। नहाते नहाते नया जीवन आ गया, शरीर में और मानों नया आलोक अन्तरात्मा में।

कुछ देर के लिए मौन हो गया मैं। लोग भी अपना अपना प्रातः कृत्य करने लगे। फिर कपूरीलाल जी को मैंने स्तोत्र पढकर सुनाने को कहा। उसके उपरान्त मेवा बांटा गया। सभी ने सहर्ष स्वीकार किया और कुछ गुड़ पापड़ी भी खाई। अब आगे जाना था।

आज भी वह दृश्य मेरी आँखों के आगे आता है तो हृदय भाव से भर देता है। वह अछूती पवित्रता, वह शान्ति, वह निस्तब्धता और गौरी कुण्ड का वह सौन्दर्य। उन ऊँचाइयों पर, चट्टानों में निर्मल जल और वह हिम खण्ड आज भी हृदय को उछाल देते हैं। वहां पर बिताये हुए कुछ पल स्वप्न की सी घटना लगते हैं। वह सभी दिव्यत्व का ठाठ था, मानों स्वर्ग का एक अंश वहां लाकर रख दिया गया हो!

थोड़े ही भाग्यशाली व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनको ऐसा मौसम गौरीकुण्ड पर मिलता है। प्रायः वायु होती है वेगवती और वर्षा भी। प्रायः गौरी सर, सारे का सारा बर्फ से ढँका रहता है। उस बर्फ को फोड़ कर नहाना होता है। इस प्रकार के सुन्दर अवसर के लिए हम कितने अनुग्रहीत अनुभव कर रहे थे।

दर्चिन की ओर

(२५)

अब हमें सांझ तक दर्चिन पहुँचना था। चौथी गुम्फा के नीचे कैलाश पर्वत-माला के चरणों पर, दर्चिन एक छोटी सी तिब्बती मण्डी है। वहां उस प्रदेश का एक राजा भी रहता है, मकान में, तम्बू में नहीं। रास्ते में तीसरी गुम्फा भी पड़ने वाली थी।

गौरीकुण्ड से जरा ऊपर चढ़ने के बाद, रास्ता एकदम से नीचे घाटी में जाता है। वह ऊँचाई जो हम तीन मील में आये थे, लगभग १ ही मील में उतरनी होती है। पिछले वर्षों तो इस रास्ते में भी वर्फ रहती थी और उतरने में बहुत कठिनाई होती थी, परन्तु हमें तो यह रास्ता साफ मिला। हम लोग थोड़ी ही देरी में नीचे आ पहुँचे।

सामने एक दूसरी ऊँची पर्वत माला थी। काले काले पत्थर थे। घाटी के मध्य में कलकल करती निर्मल-जलवाहिनी एक नदी थी। इसके दाहिने किनारे एक रास्ता था और प्रायः रास्ते पर छोटी छोटी घास थी। उस घाटी में भेड़ें चर रही थीं, नदी के पार की ओर।

गौरी कुण्ड का मुझ पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि मन में संकल्प जागृत हुआ कि इन अनुभूतियों को लेखबद्ध करना चाहिये।

सोचा कि किसी मित्र के नाम एक पत्रों का सिलसिला जमकर लिख डालूंगा। किस दृष्टिकोण से लिखूंगा, यह भी स्पष्ट हो गया। यह वर्तमान लेखमाला उसी संकल्प का फल है। मैं सोचता था कि इन अनुभूतियों को फिर चेतन मन में जागृत करना और अंकित करना कितना आनन्दप्रद होगा। अब अनुभव करता हूँ कि वास्तव में यह आनन्दप्रद है!

कैलाश हमारे दाहिने को था, परन्तु ऊँचे ऊँचे, काले-काले, पथरीले पहाड़ तो हमें, उसे देखने से रोकते थे। वह बिदा जो हमने गौरीकुण्ड से पूर्व ही ली थी, अन्तिम बिदा थी। अब फिर कैलाश उतनी समीपता से, उतनी विशालता तथा वैभव में न दीखेंगे! वह तो बस; ७-८ मील की ही लीला थी अब दीखेंगे तो सही, परन्तु दूरस्थ, छोटे से, उस विशाल भूभाग के एक अंश मात्र, यद्यपि उतने ही प्रभावशाली।

घाटी में आते ही वह तनाव जो आन्तरिक क्षेत्र में कैलाश के सम्मुख रहने में प्रतीत होता था, अब चला गया। वह तनाव तो गौरीकुण्ड पर भी न था। वहाँ तो शीतलता थी, जैसे कि माता की गोद दुबकने से होता है। कैलाश के सामने तो आन्तरिक तीव्रता, मानो पिता के सामने का भय हो। अब ऐसा लगता है कि कैलाश की ओर पीठ हो गई और वास्तव में आगामी सारे रास्ते में, जहाँ भी कैलाश दृष्टिगोचर होंगे, हमारी पीठ की ओर ही रहेंगे। हम उनके विमुख चला करेंगे।

इस घाटी का रास्ता बड़ा ही रम्य था। हरी हरी घास तिब्बत में देखने को मिले तो सौभाग्य ही है। जल के छोटे छोटे नाले पर्वत से भी आते थे। हमारे रास्ते को काट कर उस घाटी की प्रधान नदी में मिल जाते थे।

मैं तो अब पूर्ण स्वस्थ था। आन्तरिक क्रियाओं में भी अब वह तीव्रता न थी। बुखार ने मुझे तभी छोड़ दिया था, परन्तु कमजोरी बहुत थी। जो आगामी ४-५ दिन तक बनी रही और तकलाकोट से परे लिपुलेक घाटे तक मुझे सवारी का आश्रय लेना पड़ा। मैं चँवर पर चल रहा था। चंवर जैसे बेढ़ब जानवर भी अपने सवार को पहिचानने लगता है। उसके चढ़ने और उतरने के लिए वह रुक जाता है। सबसे अधिक कठिनाई चंवर की सवारी में होती है, चंवरों की इकट्ठे एक ही पंक्ति में चलने की आदत से। वह बीच में घुसता है और दूसरे चंवरों पर लदा हुआ सामान सवार की टांगों पर चोट करता है, कभी कभी तो घायल भी कर डालता है। अतः सजग रहना आवश्यक है। लाठी के बिना इस मुसीबत का कोई इलाज नहीं। आज तोपगे में भी बड़ी स्फूर्त्ति थी। उसके हाथ में माला अनवरत चल रही थी। वह उसे लटकाये हुए चलता था, होंठ हिलाता हुआ। जैसे चंवरों को उसने आज हांका, वैसा कभी न हांका, सारे रास्ते में।

रास्ते में अनेक स्थलों पर मधुर, शीतल जल पीया। पेट की क्षुधा का भी आंशिक निवारण हुआ। आँखे तीसरी गुम्फा पर लगी हुई थीं। प्रतीक्षा रास्ते को और लम्बा कर देती है। वहाँ तीसरी गुम्फा पर आराम करेंगे और कुछ खायेंगे, यह आशा ही बहुत से हृदयों को उद्वेलित कर रही थी। स्वामी जी तथा गोविन्द वल्लभ बाकी सबसे जरा आगे आगे कदम बढ़ाये जा रहे थे। लगभग १२ बजे हम तीसरी गुम्फा के नीचे पहुँचे। सामने की चोटियों पर मंडराते हुए बादल के टुकड़े बड़े प्यारे लगते थे और कहीं कहीं दीखने वाली हिम की शिलायें भी, चोटियों के समीप ही।

हम लोग बैठे ही थे कि इतने में एक तिब्बती भिखारी वहाँ आ गया। उसके पास एक बहुत सुन्दर चमकीले रंग के कपड़ों वाला छाता सा था। उससे अनेक प्रकार के पत्थर से लटक रहे थे। सूरत भी उसकी अजीब थी। वह बूढ़ा था, लम्बा-सा मुँह था और अद्भुत तरीकें से, दन्त विहीन मुँह से पुपलाता था, 'ओई मनि पेमें हुँ।' पास ही पानी बह रहा था। पानी लाया गया और सत्तू माँडे गये। उसको भी दिये। मैं उसकी फोटो लेने की सोच रहा था। विचार था कि तोपगे और इसकी एक साथ ही खींचे। परन्तु जब उसे प्रतीत हुआ कि मैं फोटो लेने वाला हूँ तो प्रलोभन देने पर भी वह न रुका। वहाँ से चला ही गया।

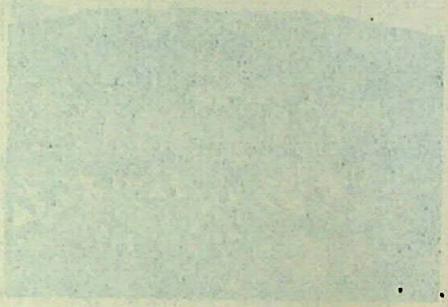
धूप इस समय तक तेज हो गई थी। सिर को छाते की छाया में रखकर मैंने तो जरा विश्राम ही किया, खाने को रुचि न थी। आध घन्टे के बाद हमने रास्ता लिया। मुझे तो गुम्फा देखने की न रुचि थी और न, हा ल। माताओं ने गुम्फा देखी ही और तोपगे ने वहाँ के लामा के साथ चाय उड़ाई।

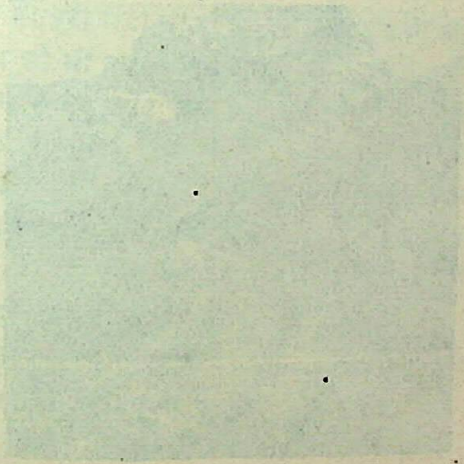
यहाँ से रास्ता दूसरा ही रूप धारण करता है। हम पर्वत की ढाल पर किनारे किनारे चलने लगते हैं। नीचे बाईं ओर गहरा हो जाता है। नदी भी नीचे ही नीचे बहती है और अधिक वेगवती व मैली हो जाती है। अब पहाड़ों में मिट्टी भी दीखती है। वह जलने वाला झाड़ डामा भी दीखने लगता है। हम लोग काफी नीचे उतर चुके थे। वातावरण भी सामान्य तिब्बत का-सा हो जाता है। पर्वत के कोने से घूमकर हम पश्चिम को चलने लगते हैं। कैलाश पर्वतमाला हमारे दाहिने को ही रहती है। रास्ता बिल्कुल पत्थरों से पटा है। सामने ही तम्बुओं का नगर दीखने लगता है। एक मिट्टी का मकान भी है उस पर

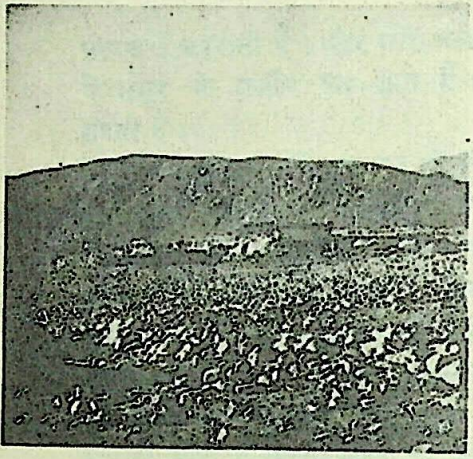
पताकायें फहराती हैं। धीरे धीरे चलते चलते हम इस तम्बुओं के समूह के समीप आ जाते हैं। यही दर्चिन की प्रसिद्ध मण्डी है।

हमने परिक्रमा के कुल २३ ही मील पार किये थे। ऐसा ही वहां का रिवाज है। दर्चिन से पहली गुम्फा जाना ६ मील होता है। परन्तु उसमें कोई रुचि वाली बात भी प्रतीत नहीं होती। आश्चर्य की बात है कि तिब्बती लोग परिक्रमा एक ही दिन में कर डालते हैं। हमें ऐसे कुछ व्यक्ति मिले भी। परन्तु ऐसी जल्दी से की गई परिक्रमा कुत्ते की परिक्रमा कही जाती है। अर्थात्—हीन दृष्टि से देखी जाती है। सबसे महत्व की परिक्रमा तो वह समझी जाती है जिसमें यात्री लेट लेट कर भूमि को मापता चला जाता है। तिब्बती लोग ऐसा भी करते हैं; हमें कोई ऐसा करने वाला नहीं मिला।

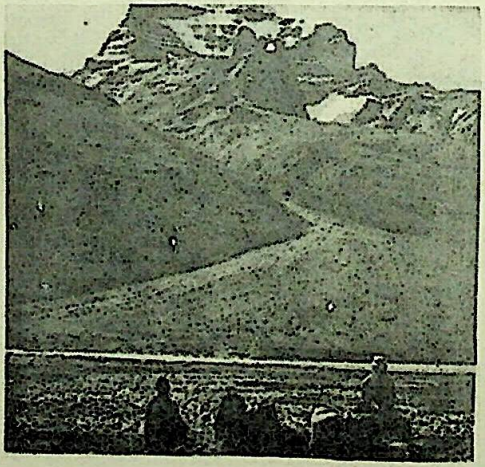
———







कैलाश की परिक्रमा में एक तिब्बत की मंडी।
(अध्याय २६)



गुर्लामान्धाता के चरणों में। अब हम भारत की ओर चल रहे थे।
(अध्याय २९)

दर्चिन की मंडी

(२६)

पास ही एक नदी बहती है। पुल से उसे पार कर मंडी में प्रविष्ट होते हैं। नीचे बस्ती के दक्षिणी कोने पर एक स्थान डेरा करने को ढूँढ़ा गया। पानी पास ही था। वहाँ पर भेड़ों और बकरियों की मींगनें, अस्थियाँ तथा चंवरों का मैला बिखर रहा था, परन्तु और स्थानों से अच्छा जानकर वहीं पर तम्बू लगाये। जो हो सकी, थोड़ी सफाई कर ली गई।

तोपकू में हमने मंडी का पूर्वरूप देखा था। वहां भोटियों के तम्बू लगे थे। दो चार दुकानें थी और तिब्बती लोग दीखते थे। दर्चिन तो पूरी मंडी थी। भोटियों की दुकानें थीं अनेक और हूणियों की भी दुकानें थीं। तम्बू लगे हुए थे। उनमें तरह तरह के सामान थे। कपड़ों के ढेरों के ढेर थे। वे वस्त्र जो भारत में आज प्राप्त नहीं होते, भोटियों को तिब्बत में व्यापार के लिए मिले थे। ऊनी कपड़े थे और खालें भी थीं, बिसात का भी सामान था--साबुन, तेल, कंघे, शीशे आदि। परन्तु दुकानों के जिधर देखें मैला ही मैला था। भेड़ों की मींगने तो वहाँ मैले में गिनी ही नहीं जातीं और न ही हड्डियाँ। ऊन के टुकड़े भी तो वहाँ किसी बुरी निगाह से न देखे जाते होंगे। भेड़ तथा बकरी का दिया ही तो आखिर वे लोग खाते हैं।

हम लोग काफी दिन रहते वहाँ पहुँच गये थे। अतः तम्बू लगते लगते मंडी देखने चले गये। पहला विचार था, आटे की प्राप्ति का पता करना। स वह गोविन्दवल्लभ तथा स्वामी जी ने ही कर रखा था। आटा प्राप्त था। यह बड़े सन्तोष की बात थी। भाव लगभग आठ छटांक रुपये का। चावल भी मिलता था परन्तु इससे कहीं मँहगा। एक दूसरी बात भी मस्तिष्क में घर कर रही थी।

कैलाश तथा गौरी कुण्ड देखने के उपरान्त व्यक्ति अपने को कृतकृत्य समझता है और तिब्बत से भाग निकलने की धुन सवार हो जाती है। अपनी हालत की ओर देखकर ही जी उतावला होता है। इतने दिनों से चलना ही चलना। रात को भी वही स्वप्न! तन की दुर्दशा उस ठण्डे में और कपड़े भी तो गन्दे। कई दिन तक धोने को अवसर ही नहीं, और तिब्बतियों से संसर्ग; और वह पैशाचिक सी भूमि जिसमें व्यक्ति की गति ही बिगड़ जाये। ये सभी बातें व्यक्ति को प्रेरित करती हैं, उद्देश्य के पूरा होते ही, कि इस भूमि से जल्दी से जल्दी निकल जाँय। कैलाश के दर्शन तथा गौरीकुण्ड का स्नान! यही तो उद्देश्य था। मानसरोवर तो रास्ते में मिलेगा ही। और भी कतिपय कारण थे, जिससे मैं चाहता था कि और न हो तो कम से कम मैं तो माताओं को लेकर सीधा तकलाकोट चल दूँ। मातायें भी तैय्यार सी हो रही थी; उनके मन में कुछ दुविधा भी थी कि गोविन्द-वल्लभ आदि का साथ कैसे छोड़ें। कपूरी लाल मेरे साथ आने को तैय्यार थे और नरेन्द्र भी। वे तो और कारण से भी जल्दी में रहे होंगे। अस्तु, मंडी में चंवर के लिये खोज की गई। हमारा प्रोग्राम चंवर मिलने पर निर्भर था। चंवर वाला तकलाकोट के

लिए २० रु० से अधिक बताने लगा—एक चंवर तथा एक आदमी का। इसके लिए कोई तैय्यार न था।

मैंने यह बात गोविन्द वल्लभ के कान में डाल दी थी वे भी हमारे इधर सीधा चले आने में सहमत-से थे, परन्तु जब हम इस प्रकार बिना प्रबन्ध किए लौटे तो वे कहने लगे, 'सुनिये तो, यदि सभी लोग सीधे तकलाकोट चलें तो कैसा हो? तोपगे को ही वहाँ ले चलेंगे, और इसने तो कहा भी था। मैंने कहा—'यह और भी प्रसन्नता की बात है? सभी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। रुपये का प्रबन्ध वहाँ हो ही सकता था। कल्याण सिंह, तोपकू, वाले का लड़का, वहीं पर दर्चिन में था।

ज्ञानिमाँ जाने के लिए मुझे ही उत्सुकता रही थी और थी गोविन्दवल्लभ को। नरेन्द्र तथा कपूरीलाल को विशेष उत्साह न था। स्वामी जी की अपनी कोई विशेष रुचि ही न थी। तिब्बत के इतने भ्रमण ने तथा दर्चिन की मंडी के वधस्थल के दर्शनों ने हमें भर दिया था। 'ज्ञानिमाँ अपने आप रहती है'। हमने व्यापार तो कोई करना न था। यह हमारी दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्त्तन था और हर प्रकार से बहुत अनुकूल भी।

रात को ही जीवनसिंह से चर्चा हुई। कल्याणसिंह के लड़के को बुलाने का प्रबन्ध किया गया। तोपगे से बात चलाने का ढङ्ग सोचा जिससे उसके साथ सौदा सस्ता पट जाय। कल तथा परसों का दिन हमारे पास था, परन्तु फैसला जल्दी ही होना आवश्यक था अन्यथा हमें लाचार होकर ज्ञानिमा जाना पड़ सकता था। सभी के दिलों में एक हलचल थी; एक सन्तोष सा भी।

उस शाम आगे के लिए आटा खरीदा गया। एक स्थानीय व्यक्ति के साथ दीदी आटा लेने गई। उसने मुझे बाद में बताया कि जिन करवचों में से आटा दिया गया था, उस तिब्बती ने ठीक उसके ऊपर ही नई नई कटी भेड़ के अंग टाँग रक्खे थे और उनसे टप-टप खून की बूँदें टपकती थीं। करते क्या? वह आटा न खाते तो भूखों मरते। १०) का ५ ही सेर मिला और न जाने कब का पिसा। भेड़ के बाल तो वहाँ सर्वव्यापी ही ठहरे। ऊन के ही करवच थे, न जाने रोटियों में कितने खाये होंगे। रात के समय दीखते भी तो नहीं।

तिब्बती खूंखार होता है। वह तिब्बती दुकानदार हमारे डेरे पर आकर भाव ठहरा गया था। दुकान पर जाकर बिगड़ गया और मँहगा दिया। जब मैं पूछने गया तो लाल-पीला होने लगा, मानों खूखरी से खून कर देगा। वहाँ पर लाचारी भी तो होती है।

तोपगे तो अगले दिन बर्खा तक ही जाना चाहता था। वहाँ से वह स्थान ८ मील ही होता है। आगे मानसरोवर वहाँ से लगभग ६ मील रहता है। अतः चलने में कोई विशेष जल्दी न की गई। प्रातः सामान बाँधकर हम बैठे थे जब एक तिब्बती ने आकर कहा—'दूध चाहिये तो मिल सकता है।' वह तो भाव बता कर गायब हो गया। सामने ही एक तिब्बती का डेरा था। कई एक गायें वहाँ बँधी थीं। स्त्री दूध निकाल रही थी। मैं वहाँ जा पहुँचा। दूध के लिये पूछा। वह भीतर से अपनी लोहे की करछी उठा लाई। १½ छटांक की रही होगी। दिखाकर कहने

लगी, ८ आने में एक मिलेगी। हम दूध के लिये इतने व्याकुल तो थे नहीं।

तोपगे और जीवनसिंह भी अपना सामान कर रहे थे। उनकी प्रतीक्षा में और भी देर हुई। चलते चलते आठ बज गये।

———

मानसरोवर की ओर

(२७)

चंवर हाँके गये और हम चल दिये। हमारे सामने एक बहुत बड़ा मैदान था। दूर आकाश में मान्धाता अपना हिमाच्छादित सिर उठाये खड़ा था और उसकी बेटियाँ भी। मान्धाता पर्वत-माला बड़ी विशाल है। बर्फ से उसकी ऊँचाई का भी अनुमान होता ही था। हम उसी ओर बढ़े चले जा रहे थे।

दर्चिन से थोड़ी दूर आने पर हमें कैलाश के दर्शन हुए। अब वह हमारे पीछे थे। बहुत देर तक देखने का अवसर भी न था। अब उस प्रकार का प्रभाव भी प्रतीत न होता था। 'हो गया' की सी भावना प्रबल थी। हम आगे बढ़ते चले जाते थे।

इस मैदान में कई स्थानों पर घास होती है जल भी बहता है यहाँ पर तिब्बती लोग अपने जानवर ले आते हैं। विशेष कर रास्ते के दाहिनी ओर उनके तम्बू दीखते थे।

तोपगे से जीवनसिंह ने चर्चा की थी, परन्तु उसका वाँछित प्रभाव न हुआ था। तोपगे तो ऐसी बातें कर रहा था—जितना हम देने को कभी तैयार न होते। हमें तोपकू वाले किस्से की स्मृति अभी बाकी थी कि किस प्रकार कल्याणसिंह ने तोपगे से

सौदा बनाया था। ५०) से २३) रु० पर। स्वामी जी के परिचित एक व्यापारी दर्चिन से ५ मील की दूरी पर एक मंडी में थे। वह हमारे रास्ते में पड़ती थी। इसी आशा पर हमारा नया प्रोग्राम अवलम्बित था कि वह हमारा सौदा ठीक कर देगा।

चलते चलते हम वहाँ भी आ पहुंचे और भोटिये को ढूँढ़ा। वह मिल गया उससे बातें हुई। तोपगे को बुलाया गया और बात चीत चलने लगी। उनकी बोलचाल को तो हम समझ न सकते थे परन्तु यह तो समझते थे कि कैसे खीचा तानी चल रही है। वह भोटिया तोपगे से पूर्व परिचित प्रतीत होता था। खींच खांच कर लगभग ३०) और देने पर तय हो गया साथ ही उसी दिन मान-सरोवर पहुँचने के लिए उसने तोपगे को आसानी से राजी कर लिया। मैं तो विस्मित था। सचमुच भोटिये, हूणियों के गुरु होते हैं। हूणियों का बस चले तो यात्रियों को लूट लें, हर तरीके से, कुछ मांग कर, व्यापार में और कुछ डाका डाल कर या जबरदस्ती करके। धन्य हैं ये भारतीय व्यापारी जिन्होंने इन्हें साध रखा है।

दीदी को मेरा बहुत ही ख्याल रहता था। वह मुझे आँखों से ओझल न होने देती थी। गौरी कुण्ड से पूर्व के अनुभव ने उसे बहुत सचेत कर दिया था। अन्य की ओर बिलकुल अरुचि थी। सत्तू देखने को भी इच्छा न होती थी। कमजोरी अभी तक भी बहुत थी। थोड़ा चलने से शरीर थक जाता था। टाँगें काँपने सी लगती थीं और फेफड़ों में थकावट प्रतीत होने लगती थी। दीदी की देख रेख ने ही मुझमें चंवर पर चलने का सामर्थ्य दिया था। आज भी मैंने थोड़ा चलने की चेष्टा की थी परन्तु उसका प्रभाव बहुत बुरा रहा।

स्त्री तो स्वभावतः ही माँ है। उसमें कोमलता, दूसरे के सुख की चिन्ता तथा आत्म त्याग सहज है। प्रीति से वह झट द्रवित हो जाती है। दीदी के त्याग को; उसके विशुद्ध उच्च भाव को देखकर, उसके रसोई के काम में हम सभी को खिलाने के प्रयास का चिन्तन कर, और उसकी सरल मृदुता का विचार कर मेरा मस्तक झुक जाता है। वे अशिक्षिता होते हुए भी इस उच्च शिक्षा से संयुक्त हैं जो शिक्षितों में भी दुर्लभ है, और न कोई शिक्षालय उस प्रकार का पाठ ही पढ़ाते हैं। उसकी प्रीति भी अनुपम सी है। मैं तो सचमुच यही समझता रहा कि महामाया ही—'माँ' ही, इस रूप में हमारे संग चल रही हैं, और मैं उसके निकट अपने को बिलकुल बच्चा सा प्रतीत करता था। भूख लगने पर उसे ही पुकारता था, 'है कुछ दीदी' और हमेशा ही उसकी पोटलियों में से कुछ न कुछ मिल ही जाता था। उसमें भी विचित्र ही होता था। वह भी मुझे इस दृष्टि से देखती है, यह उसने अपने मुँह से भी तो कहा ही था। मेरी संगति ही उसकी वर्त्तमान कैलाश-यात्रा के लिए प्रधान प्रेरक थी। अस्तु।

हम उस मैदान में चले जा रहे थे। कहीं कहीं घास, बिरली बिरली उगी हुई, उन डामा की झाड़ियों के आस पास और बीच बीच बहुत सुन्दर प्रतीत होती थी। दूर देखने पर लगता था, वह स्थान घास से ढ़का होगा परन्तु पास पहुंचते पहुँचते सामान्य ही होता था। उस दिन बादलों ने हमारे रास्ते भर छाया कर रक्खी, कहीं ही कुछ पलों को सूर्य की किरणें लगी होंगी। दोपहर भर, और वह मेघों में से छन कर आई, नहीं तो उस मैदान में धूप से हम व्याकुल हो जाते।

दोपहर को एक मन्दवाहिनी नदी के तट पर, उन दलदलों के पार हम लोगों ने सत्तू खाये थे। नरेन्द्र की पानी के बारे में नजाकत वहाँ भी तो देखी ही थी। न जाने कितनी बार बेचारा पानी के गिलास भर कर लाया होगा। और उसी दिन ही तो जब मैं पैदल चला था तो उस मण्डी से निकलते ही नरेन्द्र को चंवर ने बुरी तरह से गिराया था। पानी की एक खाई थी। ७-८ फुट चौड़ी रही होगी। चंवर ने छलांग लगा दी। नरेन्द्र सचेत न थे। लुढ़के, पाजामा भीगा और कन्धे पर पड़े हुए-कोट ने तो स्नान कर लिया। उस मुन्स्यारी वाले भोटिये को, तो रोज एक बार चंवर से गिरना होता था।

मध्याह्न के बाद दूर, राक्षसताल दीखने लगा। पहिले तो किनारा ही दीखता था। यहाँ से रास्ता छोटी छोटी पहाड़ी ढ़ालों से होकर जाता है। यही दृश्य में परिवर्त्तन है और यही टांगों को जरा आराम भी देता है, उस मैदान की चलाई से। पाँच बजते २ मानसरोवर हमारे दृष्टि गोचर हुआ। और जल्दी ही-कुछ मिनटों में ही हम उसके किनारे जा पहुँचे।

मानसरोवर के तट से पश्चिम की ओर एक टीला है—नंगे पर पत्थर हैं। उस पर एक गुम्फा बनी है। स्वामी जी तथा इंजिनीयर साहब उधर को गये। उसी के नीचे वह जल मार्ग है जिससे मानस का जल, बढ़ जाने पर, बह कर राक्षस ताल में जाता है। आज कल तो वह सूखा था।

मानस तट पर जितना जल के समीप जाया जाय, उतनी ही भूमि साफ मिलती है। भेड़ों और बकरियों की मींगने तो प्रायः सभी स्थलों को गन्दा किये रहती हैं। भेड़ों वाले उधर डेरे डाला करते हैं। तोपगे ने वहीं कहीं सामान डाल दिया। वहाँ

खूँटे गाड़ने में बहुत मुश्किल पेश आती है। भूमि सभी कंकर पत्थर ही है। तम्बू गड़ ही गये।

मैं तो सीधा मानस-तट पर आया। उस आती हुई संध्या के प्रकाश में मानस, मन्द पवन-तरंग से खिल सा रहा था। मन्द हासी था और उस पर सफेद कारंडव (जल कुक्कुट) छोटे-छोटे जल क्रीड़ा कर रहे थे। उनकी पंक्तियों की पंक्तियाँ ही थीं। कभी कोई कोई इधर उधर फड़फड़ाता हुआ भी दीखता था। वे जल में चोंच चलाते थे। पार-सामने छोटी छोटी दीखने वाली पर्वतों की माला बादलों से ढँकी सी थी, और सरोवर पर बादलों का धुआँ सा था, जैसा संध्या-समय अरब सागर पर दीखता है। मुझे 'गेट वे आफ इन्डिया' से देखा हुआ सांध्य-दृश्य स्मरण हो आया। मानस खूब विस्तृत था। दृष्टि तो दूसरे छोर को खोज न सकती थी। वह पर्वत माला ही उसकी सान्तना का परिचय देती थी। दाँयें और बायें पर्वत थे। बाँयें को छोटे छोटे और दाँयें को मान्धाता दीखता था, परन्तु ज़रा दूर।

वहाँ एक निस्तब्धता थी, और एक विकास की भावना। मानस की विशालता चेतना को प्रभावित करती थी।

आज मैं उस मानस के तट पर था, जिसके बारे में अनेक कवियों ने अपनी कल्पनायें कितनी ही फैला रखी हैं। जिसकी विमलता, जिसके प्रसार तथा जिस पर रमण करने वाले हंसों के स्वपन अनेक साहित्यिकों ने लिए हैं। इसी मानस की उपमा का आश्रय ले तुलसीदास जी की रामायण रामचरित मानस बनी है। अनेक सन्त इसके दर्शनों के लिए हिमालय पार कर आये है। गुरु नानक का सिद्ध संवाद तो इसी तट पर ही हुआ होगा, और

कबीर भी आये थे। ऐसा लगता था, मानो यह मानस सिद्धों का स्थान है, उनको अतिप्रिय है।

मानसरोवर तो मानवीय चेतना के निजी स्तर की ही चीज़ है। विशाल मानवता—मानव चेतना का अपने ही स्तर पर प्रसार--इससे लक्षित होता है। यहाँ पर सौम्यता है, उदारता है; ज्ञान का भी उसी स्तर पर प्रसार है, परन्तु दिव्यत्व नहीं। कैलाश और मानस अत्यन्त दूर हैं।

कैलाश की भूमि तो अति मानुषी-दिव्यत्व की भूमि है और वहाँ के स्पन्दन भी केवल मात्र ऊपर के केन्द्रों को ही प्रभावित करते हैं, बहुत तीव्रता से। हृदय केन्द्र पर प्रभाव वहाँ नगण्य सा है। अतः अति मानुषीस्तरों में सचेत हुए व्यक्ति ही उसके प्रभाव को भली भांति अनुभव कर सकते हैं। औरों को तो वहां एक निस्तब्धता की ही प्रतीति होती है। वहाँ पर उत्थान भी बहुत वेगवान् होता है परन्तु ऊपर ही ऊपर, मानो व्यक्ति ने पार्थिव लोक का ही परित्याग कर दिया है।

मानससर तो हृदय को प्रफुल्लित कर देता है। वहाँ पर व्यक्ति एक विस्तार को प्रतीत करता है। उसके साथ ही उसमें आरोहण भी होता है। परन्तु मन्द, जो उसे मानव भाव से एकदम उठा नहीं पाता।

मानसरोवर से कैलाश भी दीखता है। मानो मानस के तट पर ऊर्ध्व चेतना की झलक आ रही हो, प्रतीकमयी भाषा में, रेखा का त्रिकोण से मानों योग हो रहा है।

कैलाश-गौरीकुण्ड का दर्शन करने के उपरान्त मानसरोवर देखने से व्यक्ति मानस की महिमा को पूर्वरूपेण अनुभव नहीं

कर सकता। उस अतिशय में यह लुप्त सा हो जाता है। अच्छा तो यही है कि व्यक्ति मानसरोवर को पहिले देखे। उसके जल में अस्नान हो, उसकी सौम्य चेतना से आप्लावित हो और उसके प्रसार से प्रभावित हो, कैलाश के दर्शन को बढ़े; परन्तु हमने तो रास्ता ही दूसरा लिया था, उस पथ पर यह सम्भव न था। अस्तु।

उस सांध्य समय के मानस दर्शन ने मुझे भी खिला दिया। सुबह से स्नान के लिए अवसर न मिला था। स्नान के लिये इच्छा जागृत हुई। मानसरोवर का जल बहुत शीतल नहीं होता। मन्दशीतलता, सुखावह तो होती ही थी। तिब्बत में जब से प्रवेश किया था, कभी नहाने को इतना कम ठण्डा जल उपलब्ध न हुआ था, जिसमें आराम से नहा सकें। ठण्डक के कारण पानी बदन पर डालकर भागने की ही पड़ती थी। वहां पर स्नान बड़ा आनन्दप्रद रहा।

इस वर्ष वर्फ कम पड़ने के कारण और अब तक वर्षा न होने के कारण, मानस में जल कुछ कम था। यह किनारे पर जमी हुई काई से प्रतीत होता था। जल निर्मल तो था ही! खूब मजे से नहाया, और उसी के तट पर बैठ कर भगवच्चिन्तन किया।

मानसरोवर के तट पर वायु तेजी से चलती है। तम्बू लगाने मुश्किल होते हैं और बड़े पक्के लगाने होते हैं। अन्यथा वे रुक नहीं सकते। मेरे लौटने तक तम्बू लगे हुए थे। रात मजे में कटी। वहां पर इतना अधिक जाड़ा भी न था। हिमाच्छादित पर्वतमाला भी दूरी पर है और ऊँचाई भी मानसरोवर तट की १५,००० फीट के लगभग है। (मानसरोवर की लम्बाई व चौड़ाई १६ और १३

मील के लगभग है। इसकी परिधि का अनुमान है ६३ मील। कई तो इससे भी अधिक अनुमान लगाते हैं।)

कपूरीलाल ने बड़े प्रयत्न से दूध ढूंढ़ कर पिया। सम्भवतः भेड़ों का रहा होगा। उसकी घनता तथा सुस्वादुपन की वे भरपूर प्रशंसा कर रहे थे।

———

राक्षसताल के किनारे

(२८)

प्रातः सूर्योदय का दृश्य मानसरोवर पर इतना स्पष्ट न था। पूर्व में लगती हुई पहाड़ियां और उन पर छाई हुई, छोटी छोटी बदलियां बाधक हो रही थीं। जल्दी ही धूप आ गई। इस समय मानस पर वे श्वेतपंक्षी न थे। शाम की अपेक्षा ठण्डक भी ज़रा अधिक थी।

स्नान करके सभी लोग मानस के तट पर बैठ कर प्रभु भजन करने लगे। ओढ़ कर बैठना आवश्यक था। वहां इतने भुनगे हो रहे थे मानो उनका मेला लगा हो।

मेरी समझ में तो मानस स्मृतियों का पुञ्ज है। वहां उस तट पर बैठे बैठे, प्रभु चिन्तन के अनन्तर, प्रिय मित्रों की स्मृतियां उमड़ने लगीं। वायु वेग से तरंगित मानस-तट पर जैसे जैसे तरंगें उमड़तीं और लीन होती थीं, ठीक वैसे ही। एक एक करके मानो वे मेरे सामने आते थे और चलते चले जाते थे। फिर तो कई एक इकट्ठे ही अन्तर मानस में प्रगट होने लगे। अपनी मंगल कामनायें तथा शुभेच्छायें मैंने सभी के प्रति प्रेषित कीं। वहां पर छोटा सा होम किया और लौटा। मेरी प्रतीक्षा हो रही थी। प्रायः सभी प्रातराश कर चुके थे और सामान बांध कर चलने को तैय्यार थे। पहिले तो हमारा विचार मानसरोवर पर एक

मुकाम करके अखण्ड जाप करने का था, परन्तु इस बीच के परिवर्तन ने सभी सिलसिला गड़बड़ा दिया, मैंने उस बात को ही न उठाया।

हम लोग चल दिये। आज संध्या तक हमें राक्षसताल के तट पर पहुँचना था। यह रास्ता न तो जीवनसिंह का देखा हुआ था और न ही तोपगे का। स्वामी जी गत वर्ष इसी रास्ते पर गये थे।

मुझे यह बता देना चाहिये कि मानसरोवर के तट पर हम अकेले ही यात्री न थे। वहाँ पर दो पार्टियाँ और भी थीं। बागेश्वर के लोगों की और भास्कर स्वामी जी की। अतः इन लोगों के साथ ही चलने का विचार था।

रात को सुनने में आया था कि इधर डाकुओं की कुछ हलचल हो रही है। अतः वे दोनों पार्टियाँ तो सम्भावित समय से पूर्व ही चल दीं। हमें स्वामी जी के पथ-प्रदर्शन के भरोसे ही रहना पड़ा।

राक्षसताल तथा मानसरोवर के बीच फासला थोड़ा ही है। प्रायः १ मील का अन्तर होगा और वह एक पहाड़ है। यह बहुत ऊँचा नहीं। रास्ता इस पर होकर जाता था। आकाश निर्मल था और वायु वेगवती न थी। हम लोग आनन्द से चल दिये। स्वामी जी, गोविन्दवल्लभ तथा कपूरी लाल आगे आगे जा रहे थे।

वे जो मुन्स्यारी के भोटिये हमारे साथ थे, वे आगे भी कैलाश हो गये थे। उन्होंने बताया था कि रास्ता यहां से पहाड़ को पार कर राक्षस ताल के किनारे किनारे जाता है। नक्शे में भी रास्ता (जहाँ तक मेरी स्मृति साथ देती है) राक्षसताल के समीप दिखा

रखा था, परन्तु वह तो इतना स्पष्ट हो न सकता था, छोटेपन क कारण। दीदी आदि जो कैलाश हो गई थीं, वह भी यही कह रही थीं कि रास्ता राक्षसताल के किनारे किनारे था।

तोपगे के चंवरों को राक्षसताल की ओर घुमाया। वह हमारे दाहिने को था। स्वामी जी आदि हमें दीखने बन्द हो गये और हम इनको (स्वामी जी, गोविन्द वल्लभ आदि को)। लगभग २ मील चलने पर एक मैदान सा आता है। हम उसमें उतरे तो इनका हमारा आध मील से अधिक अन्तर था। हम लोग सामने दक्षिण को चले जा रहे थे। वहाँ चंवरों के निशान थे—उधर जाने वालों के।

उनको सामने जाते हुए भास्कर स्वामी दिखाई पड़ रहे थे। हम समझ रहे थे कि वे लोग भी घूमकर हमारी ओर ही आयेंगे उन्होंने हमें आवाजें लगाई परन्तु हमने कोई नहीं सुनी। हम लोग चलते चले गये। थोड़ी ही दूरी पर चंवरों के चिह्न गायब हो गये। अब तोपगे भी चक्कर में पड़ा और इधर उधर देखने लगा। चंवर उसने खड़े कर दिये।

इतनी देरी में वह पार्टी जो हमारी अग्रणी थी खीज उठी। वे समझ रहे थे कि उनकी आवाज सुनने के बावजूद हम उधर चले जा रहे हैं। वे लोग तीनों ही क्रोध में तमतमाये हुए हमारी ओर बढ़े चले आये। थोड़ी ही देर में वहाँ पहुँचे और जैसे मांसाहारी जन्तु अपने शिकार पर झपटता है, वे जीवनसिंह तथा तोपगे पर झपटे। अधिक वाक्प्रहार तो जीवनसिंह पर ही हुए। लाल पीले तो सभी थे ही। परन्तु स्वामी जी का आवेश सभी से बढ़ा चढ़ा था। इस तरह का व्यवहार उससे किया गया, यह सर्वथा अनुचित था, इसमें सन्देह नहीं। उस समय कुछ

भी कहना न तो उचित ही था और न उपयोगी। मुझे तो ऐसे लगता था मानों किसी ने मेरे अन्तर को छान दिया हो। मैं विचारों में डूबा हुआ अचेत सा था। चंवर चौंका और मैं जमीन पर आ गया परन्तु चोट न आई। मैंने चंवर को थोड़ा दिक किया लाठी से भगाया भी।

जीवनसिंह से मेरा कोई विशेष नाता तो था नहीं, परन्तु प्रीति तो अवश्य थी, जैसी तोपगे के साथ भी थी। उसके साथ ऐक्य स्थापित कर मैं उसकी आन्तरिक वेदना को अनुभव कर सकता था। वह स्वामी जी से आगे से ही उत्तप्त था, अब तो सीमा ही आ गई। वह कहने लगा मुझसे "मैं तो राक्षसताल से चला जाऊँगा, कहीं स्वामी जी से और बात बढ़ गई तो अनुचित होगा, वे सन्यासी हैं, मैं तो गृहस्थी ठहरा" यह सारी घटना अभी इतनी नूतन तथा गहरी थी कि जल्दी ही भूलती कैसे ?

हम सभी लौटे। घूमकर उसी रास्ते को पकड़ा। वह रास्ता उस पर्वत श्रेणी के ऊपर ऊपर जाता था, थोड़ा चलने पर मैंने चंवर छोड़ा, जरा नरेन्द्र को आराम देने के विचार से और पैदल चलने लगा। सभी इकट्ठे हो गये।

मैंने अवसर मिलने पर गोविन्दवल्लभ को बता दिया कि उनका व्यवहार जीवनसिंह के प्रति समुचित न था। वे चुप रहे। चलते चलते कपूरीलाल से चर्चा चली। मैंने जैसा जीवनसिंह के बारे में अनुभव किया था, उनके सामने रखा। स्वामी जी हमारे ठीक आगे चल रहे थे, उन्होंने सुना और क्षुब्ध हो गये।

'कहा तो क्या हुआ ? क्या तुम जीवनसिंह को लँगोटी से बाँध कर ले जाओगे ?' वे बोल उठे। मैंने उत्तर दिया—'लँगोटी

से बाँधने का तो प्रश्न नहीं, आखिर वह भी आदमी है।' तात्पर्य था कि मनुष्यत्व के नाते उस तरह का व्यवहार ठीक न था।

'तो क्या तुम हमें आदमी भी नहीं समझते?' वे बहुत अधिक आवेश में बोले। मैंने झट से मिला दिया—'यदि आदमी न समझता तो आपसे ऐसा कहता ही क्यों?'

इसी ढङ्ग की चर्चा कुछ देर चली। इसका प्रभाव उस समय तो उन पर वांछनीय न हुआ। उल्टे ताना देते हुए सुने गये, परन्तु कालान्तर में उन्होंने इस बात के औचित्य को प्रतीत कर ही लिया।

यह चर्चा समाप्त हुई ही थी कि वायु का वेग बढ़ा। बादल उमड़ आये और नन्हीं नन्हीं बूँदों के साथ ठण्ड ने जोर पकड़ा। चलने में इतना तूफान सा आज पहिली बार ही मिला था। शरीर को कम्बलों से लपेटना आवश्यक हो गया। मैंने चंवर ले लिया। एक घाटा पार किया। बांई ओर फिर मानसरोवर के दर्शन हुए। थोड़ी ही देर में बादल चले गये, हवा बन्द हुई। आकाश निर्मल हो गया। वह क्षणिक सी लीला समाप्त हो गई।

धार पर चलते चलते रास्ता घटता गया। दूर देश में राक्षस ताल का कोना दृष्टिगोचर हुआ। समझे कि अब पहुँच गये हैं परन्तु अभी 'दिल्ली दूरस्त' वाली बात थी। हमें तो अभी एक पर्वत की ढाल को पूरा पूरा लाँघना शेष था, काफी आगे और नीचे जाता था। शायद वह रास्ता १½, २ मील रहा होगा। टाँगें थक सी रहीं थीं। चंवर पर बैठे बैठे तो कमर भी दर्द करने लगी। उतराई थी, मैंने चंवर को छोड़कर टाँगों का आश्रय लिया और उस ढाल पर जल्दी जल्दी चलता गया। प्रायः सभी

लोग थक से रहे थे। थोड़ी थोड़ी दूर पर विश्राम की प्रेरणा हो ही रही थी। क्षुधा भी व्याकुल करने लगी थी। दिन का आहार बहुत हल्का ही रहा था।

भास्कर स्वामी तो राक्षस ताल के किनारे लगभग मील भर ऊपर ही बैठ गये थे। हम प्रायः कोने पर आ गये। राक्षस ताल किनारे किनारे रास्ता जाता हुआ दीखता था, भेड़ें भी चलती ही थीं। पत्थरों से पटी सड़क-सी थी। सम्भवतः पुराना प्रचलित रास्ता यही रहा होगा—बरसों पहले और अब वह ऊपर वाला रास्ता चलने लगा हो।

राक्षस ताल तो अवहेलना पूर्ण नाम है। बहुत लोग तो राकस ताल ही कहते हैं। रावण ही वह राक्षस होगा जिसके नाम से इस सर का नाम राक्षसताल पड़ा है। सम्भवतः पौराणिक गाथा की कल्पना हो कि वह इस सर में नहाता था, जब तपस्या के निमित्त उसने इधर वास किया। कैलाश से मानसरोवर तथा यह ताल प्रायः बराबर ही होते हैं। यही शायद कुछ कम हो। सङ्गति का कितना दुष्परिणाम हो सकता है, इसकी यह ताल साक्षी देता है।

यह ताल नहीं, पूरी झील की झील है और मानसरोवर से परिधि में थोड़ी ही कम होगी। उसके बीच में पहाड़ भी है और आकार में उतनी सम नहीं जितना मानसरोवर। राक्षसताल पर वायु बहुत तीव्र चलती है। और इसी लिए ही पानी अधिक निर्मल है। जोर की लहरें उठती रहती हैं उस वायु के कारण और किनारे से टकराती हैं। यहाँ पर तो सींवार का नाम न था और कभी सींवार पड़ती है इसके भी कोई चिह्न न थे। मानसरोवर-तट तो इस बात को सूचित करता था कि वहां

सींवार रहती ही है। सम्भवतः मानस तट पर भी हर जगह ऐसा न होगा।

यहां के वातावरण में एक क्षोभ था वायुवेग के कारण; परन्तु, तो भी स्पन्दन उच्चकोटि के थे। मानसरोवर की सौम्यता न थी और न ही उतना प्रसार ही।

सांध्य प्रकाश में जब रवि का बिम्ब अदृश्य हो रहा था, मैंने कैलाश के यहां से दर्शन किये। वह अद्‌भुत दृश्य था। बादलों ने तीनों ओर से कैलाश को घेर रखा था। ऊपर भी कुछ मेघ मँडरा रहे थे। परन्तु वह हिमाच्छादित शिखर तो स्पष्ट था। ऐसा लगता था मानों मेघों पर आरूढ़ कैलाश दूर आकाश में स्वर्ग का एक खण्ड़ सा है। केमरे के योग्य प्रकाश न था।

वहां तम्बू को तो पत्थरों के सहारे स्थिर किया जा सकता है। खूँटे गड़ने कठिन, और गड़ भी जायें तो पत्थरों के बिना टिकें कैसे? उस भूख में भुने हुए गेहूँ भी अच्छे लगे थे और स्वामी जी वाले बिस्कुट भी।

———

तकलाकोट की ओर

(२६)

तकलाकोट हमारे मस्तिष्क में घूम रहा था, 'कौन सी घड़ी हो, हम वहाँ पहुँचे' यही उत्सुकता थी। मानसरोवर से तकलाकोट २८ मील कहा जाता है । परन्तु 'सर्वे आफ इण्डिया' का मान चित्र तो कम से कम ३२ मील दिखाता था। उस दिन ११ मील तो हम आ ही चुके थे, संभव है १२, आये हों।

प्रातः ही हम लोग चल दिये। मन में था कि साथ चलने वाली दोनों पार्टियों से आगे चलें और जाकर चंवरों आदि का प्रबन्ध कर लें। भय था कि इतने अधिक लोगों का प्रबन्ध, संभव है कठिन हो जाय और हमें कहीं रुकना न पड़ जाय। जल्दी जल्दी चंवरों को हाँकते हुए चलने लगे। थोड़ी चढ़ाई तो थी ही। आज हमने गुर्ला मान्धाता को लांघना था! यह घाटा बहुत ऊँचा तो नहीं परन्तु राक्षसताल से उधर जाने में चढ़ना तो पड़ता ही है।

उस चढ़ाई पर, आज मुझे स्पष्ट याद है, जब सूर्य के सामने बादल लग जाते थे और धूप नहीं मिलती थी तो हाथ पाँव ठण्डे पड़ जाते थे और प्राण धूप को चाहता था। धीरे धीरे दिन बढ़ता गया और ठण्डक कम हुई। परन्तु गत दिवस का सा अनुभव तो आज भी हमारे लिए था ही। एक नदी को घाटी को

पार कर हम लोग ज्यों ही पहाड़ी की ढ़ाल पर चढ़े तो चमचमाती हुई धूप बादलों में छिप गई। ठण्डी हवा चलने लगी। और उसके साथ ही वर्षा आई। पहिले नन्हीं नन्हीं बूँदे थीं, फिर तेजी से बरसते हुए छोटे छोटे ओले। हमारी बांई ओर चोटी पर बर्फ थी ही। यह गुर्लामान्धाता के परिवार में से ही कोई पर्वत रहा होगा।

लगभग दो बजे हम एक पड़ाव पर पहुँचे। नदी में ठण्डा पानी बह रहा था। और पास में घास थी। पीछे आने वाली पार्टियाँ यहीं बैठने वाली थीं! यह स्थान राक्षसताल से १० मील रहा होगा। तोपगे भी स्वभावतः यहीं बैठना चाहता, परन्तु उसे चकमा दिया गया। स्वामी जी तथा गोविन्दवल्लभ ने तोपगे को कहलाया कि हमें रास्ते में किसी ने बताया है कि यहाँ डाकुओं का भय हो रहा है, अतः आगे बढ़े। वह मान गया और हम थोड़ा विश्राम करके आगे बढ़े।

धूप निकल आई थी, परन्तु वहां आँधी सी चल रही थी। पहाड़ क्या थे। मिट्टी और छोटे छोटे पत्थरों के टुकड़ों के ढ़ेर। वह बिलकुल ही ऊजड़ भूमि थी। घास तो दूर रहा, यहाँ पर तो डामा भी न दीखता था। उस हवा से छोटे छोटे कंकर और धूलि उड़कर टांगों को लगती थी और आँखों तक भी आती थी सचमुच वह वायु दुःखदायी थी। उसने जल्दी ही थका दिया। दो मील चलने पर पानी आया। स्वामी जी तथा गोविन्द वल्लभ वहां रुके थे विश्राम के लिए, परन्तु हमारे देखते देखते आगे निकल गये। मन कहता था 'दो मील आ गये हैं, यहीं बैठ जाते तो अच्छा था' एक एक कदम भारी हो रहा था। मेरा शरीर तो चूर चूर हुआ जा रहा था, चंवर पर बैठने पर यह दशा थी.

पैदल चलने को तो अभी ताकत थी ही नहीं, पर जैसे तैसे चलना तो था ही, सो चलते गये। मातायें भी, गिर—पड़ रही थी। हम लोग १२ मील आ गये थे। वह वायु व्याकुल करने वाला था। दूसरे, तिब्बत में जैसा भोजन मिलता था और तिस पर महीने भर से रोज पैदल चलने के कारण शिथिलता तो सभी में आ ही रही थी। आगे का रास्ता तो घिसट घिसट कर ही कटा। कहीं बीच में चढ़ाई आती थी तो मातायें और भी घबराती थीं। पानी तो वहाँ, उस सूखे पहाड़ में विरले स्थलों पर दो दो मील पर ही था। अतः दो मील और चलना आवश्यक हो गया।

पानी आ ही गया, फैला हुआ सा था। मन आगे कदम बढ़ाने को भार समझता था। तन ढेर हो जाना चाहता था। कुछ ही कदम आगे बढ़ कर डेरे के लिए उचित स्थान मिला, नदी के ठीक किनारे, नदी की घाटी में। यह रिंगुंग का पड़ाव था। हम समझते थे, तकलाकोट बस, चार मील ही है, परन्तु जल्दी ही पता लगा, अभी ८ मील है।

मैं तो धूप में जाकर लेट गया। कमजोरी बहुत प्रतीत हो रही थी। शरीर चूर चूर सा हो रहा था। नरेन्द्र ने पानी गर्म किया और सितोपलादी चूर्ण की मात्रा मैंने ले ली। ग्लूकोज भी थी पास में, उसका भी सेवन किया। तम्बू लगे तो उसमें जाकर पड़ रहा।

अब तो मेरा मस्तिष्क तकलाकोट से आगे भारत भूमि पर दौड़ने लगा था। मैं चाहता था कि जन्माष्टमी के दिन तक, हो सके तो एक दिन पहिले ही, मैं दिगोली पहुंच जाऊँ और मातायें भी। रास्ते में हमें एक दिन के लिए रेतोली मुआनी भी रुकना

आवश्यक था, कार्यवशात । अतः ऐसा सोचा था कि भारत भूमि में प्रवेश के उपरान्त, माताओं को साथ लेकर मैं आगे बढ़ जाऊँ गोविन्द वल्लभ का प्रान्त लग जायेगा। उनका दौरा ही होगा, वे आराम से आते रहेंगे। और उनके साथ ही कपूरीलाल तथा नरेन्द्र। ऐसे संकल्प उठ रहे थे।

रिंगुंग के पास में कुछ दूरी पर गुम्फायें थीं। पास ही और बस्ती थी। नीचे नदी वह रही थी, जिसके किनारे तकलाकोट बसा हैं। उसके सामने ऊँचे किनारे दिखाई पड़ते थे। उन्हीं पहाड़ों पर से रास्ता ज्ञानिमा को जाता है। ज्ञानिमा जाते तो उधर से लौटना होता।

तकलाकोट में

(३०)

अगले दिन प्रातः ही हम लोग तैयार हो गये। पास ही में उसी पड़ाव में भेड़ों वाला भेड़ें लेकर आ गया। वह भेड़ें मुड़वाने तकलाकोट जा रहा था। ऊन भेड़ों के हिसाब बिकती है, तोल से नहीं; और मंडी में ही भेड़ें मुंडती हैं। हमने यह दृश्य तोपकू में देखा था और फिर दर्चिन से आगे वाली मंडी में। चारों पांव बांधकर भेड़ को गिराया जाता है और फिर जल्दी जल्दी कैंची चलती है। हजारों भेड़े मुंडती हैं, प्रतिवर्ष हर मंडी में।

दो भेड़ें वह भेड़ों वाला वापिस घर लौटा देना चाहता था। वह पास ही गुम्फा में रहता था, उसी घाटी में नीचे की ओर वह अकेला था। दो भेड़ें अकेले घर कैसे जातीं ? भेड़ की ही सन्तान थी, आदमी की नहीं, जो समझ जातीं। और बाकी, भेड़ों को छोड़ कर वह कैसे पहुँचाता ? वे तो सभी के साथ ही जाना चाहती थीं। उनके लिए यह एक विचित्र समस्या थी। वह रस्सी की खोज में था। उसे एक रस्सी दी गई। उसने उस छोटी सी रस्सी से उनके सींग बांधे और उन्हें हकाया। पत्थर से डराता हुआ छोटे छोटे पत्थर फेंकता हुआ, वह उनको रास्ते पर लगाने में सफल हुआ। हम भी चल दिये।

जानवरों को हाँकने में पत्थर का प्रयोग तोपगे भी करता था और बड़ी सफलता पूर्वक। उनकी दिशा को बदलने का इससे सुगम उपाय और कोई न था। चाबुक तो सिर्फ तेज करने के लिए बरता जाता था पत्थर वहाँ हर जगह प्राप्य हैं।

रास्ता मैदान था और उतराई थी। केवल आठ ही मील तो हमें चलना था रास्ते में पानी भी था ही। हवा उतनी न थी। एक पहाड़ के किनारे किनारे रास्ता चला जाता था। उत्सुकता थी, तकलाकोट को देखने की। आशा थी कि बस, एक और मोड़ लिया और सामने तकलाकोट दिखाई देगा। परन्तु, यह आशा अन्त तक बनी ही रही। ठीक वहीं पहुँच जाने पर तकलाकोट दीख पड़ा। वह नदी के किनारे गहरे में बसा है। और बाकी बस्ती वहां से लगभग ३ फर्लांङ्ग की दूरी पर पहाड़ की दूसरी ढाल पर है। वह तो इधर से दीख ही नहीं सकती।

लगभग ४ मील चलने पर हरियाली दिखाई पड़ती है। पानी की कूल (छोटी नहर) निकाली हुई है; जो खेतों को हरा भरा कर देती है। तिब्बत के ऊजड़ प्रदेश में इतने दिन व्यतीत कर हरे हरे खेतों के दर्शन कितने प्रिय लगते हैं। प्रतीत होता है, हम दुनियाँ में आ रहे हैं। बस यहाँ से बस्ती लग जाती है। लोगों के घर, मिट्टी से बने हुए, मैदान चौड़ी छत वाले और झाड़ियों के कांटों से थापी हुई मेंड़े दीखने लगते हैं। रास्ते पर स्तूप बने हैं जगह जगह। इस प्रकार का सिलसिला एक बार आरम्भ होता है तो ठीक तकलाकोट के समीप तक चलता जाता है। पानी खूब हैं। गाँव के बाद दूसरा गांव आता है। मटर के हरे हरे लदे हुए खेत (फलियों से) देख पड़ते हैं और जौ के खेत भी जिनमें बालें भरी हुई थीं। वायु में डोलते हुए वे कितने अच्छे

लगते थे और ऊपर, बाईं ओर देखने पर वही रुण्ड मुण्ड पहाड़ थे, पत्थरों के टुकड़ों से ढ़के हुए। डामा तक का नाम न था। जल की धारा अवश्य कहीं कहीं बहती दीखती थी, नीचे को आती हुई। मानव पुरुषार्थ ने इस वीरान को हँसती हुई, लह-लहाती हुई, उपजाऊ भूमि में बदल दिया था। वहाँ पर मटर बहुत अच्छा होता है और जो भी। यह अपेक्षाकृत गर्म प्रदेश है। हम लोग १४००० फीट से भी नीचे आ गये थे।

मटरों के खेतों को देख कर, मटर खाने की इच्छा होनी स्वाभाविक ही है। सत्तू देकर कुछ मटरों की फलियाँ ली। वे बहुत मधुर थीं और कोमल भी। कितने दिनों के बाद ऐसी वस्तु मिल रही थी! इसलिए भी उनका स्वाद द्विगुणित प्रतीत होता था। सत्तू फाँकते हुए (नरेन्द्र वाले बढ़िया सत्तू दीदी के पास थे) और मटर खाते हुए, हम लोग बढ़ते चले आये। धूप तेज़ होती जा रही थी। और भूमि भी गर्म होने लगी थी। पथरीली भूमि थीं। तकलाकोट की आशा लगाये चलते चले जा रहे थे। वह नदी समीप आ रही थी। उसका शब्द अब स्पष्ट कानों में पड़ने लगा था। उसका नाम है करनाली।

धीरे धीरे नीचे गहरे में तम्बू दिखाई दिये। कुछेक मकान भी और नदी पर लचकता हुआ पुल। चंवर आगे निकल चुके थे, पुल पर पहुँचे तो देखते क्या है कि तोपगे ने सामान वहीं डाल दिया है और चंवर खोले बैठा है। स्वामी जी तथा गोविन्द वल्लभ पार-वाली तकलाकोट की बस्ती में नन्दराम भोटिये के यहाँ गये थे। हम लोग वहीं बैठ गये। ज़ोरदार धूप लग रही थी। मैंने सूर्य के सामने अपना शरीर फैलाया और लेट गया।

तकलाकोट गर्म जगह है और विशेष कर नदी तट। वहाँ पर हवा भी नहीं चलती। शरीर गर्म हुआ और पसीना आया, न जाने कितने दिनों के बाद शरीर खुल सा गया।

हम लोग अजब असमंजस में थे। वहाँ पुल के पास पड़े थे, सामान के रखवारे से। कहीं डेरा लगता तो खाना पीना होता। मैंने जीविनसिंह को गोविन्दवल्लभ के पास भेजा और आप स्नान के लिए तैयार हो गया। पानी तो बहुत ठण्डा था, परन्तु शरीर के धूप में तप जाने के कारण उस मध्याह्न की धूप में वह खला नहीं। इतने में उधर से पता भी आ गया।

वहाँ पर एक हूणिया कुष्मारू (जंगली पहाड़ी फल) बेचने को लाया। खुमानी की किस्म का निकृष्ट फल होता है। परन्तु, उस बुभुक्षित अवस्था में तिब्बत की भूमि पर वह भी बहुमूल्य था। उसे सभी ने शौक से खाया। और, वहाँ खाने को था भी क्या? बाजार में जूते बिक रहे थे। ऊन थी और भेड़ बकरियाँ। ऊनी कपड़ा बेचने की इच्छा से कुछ लोग इधर चक्कर लगा रहे थे। सवारी किराये पर लगाने के विचार से भी कई हममें रुचि रख रहे थे। कपूरीलाल को ही इस बात में रुचि थी। वही इस उधेड़ बुन में पड़े।

उधर से आदमी आया था बोझों को पुल पार करवाने के लिए। चंवर पुल से घबराते हैं। वे तो नदी में से ही तैर कर पार होंगे। दूसरे पार लादे जायेंगे और फिर हम लोग भोटियों की मंडी में पहुँचेगे। सामान तथा चंवरों के उधर आ जाने पर मैं आगे चला गया। नन्दराम की दुकान पर वे लोग भी मिले।

तकलाकोट भोटियों की बड़ी मंडी है। वहाँ पर पत्थर की दीवारें चिनी हैं। और उन पर कपड़ा डाल कर ढक रक्खा है।

इस प्रकार से वे कपड़े की छत वाले मकान हैं। उनके नीचे भी तहखाने रहते हैं। नवम्बर में बाकी बचा सामान उन नीचे वाले तहखानों में बन्द कर ये लोग भारत लौट आते हैं। मैंने सुना था कि तिब्बत की गवर्न्मेन्ट इनको मकान छाने की आज्ञा नहीं देती। न जाने, इसमें कितना तथ्य है।

तकलाकोट बड़ी मंडी है। लगभग ५० मकान तो भोटियों के ही होंगे। इसके अतिरिक्त मकानों में तिब्बती भी रहते हैं। यहाँ के शासक का स्थान उसी पहाड़ी के शिखिर पर है। वहाँ एक मन्दिर भी है। वे कपड़े से ढंके मकानों की पंक्तियाँ दूर से अजीब लगती हैं। उस बीच वाली घाटी से दीखती हैं।

नदी पार करके छोटी सी घाटी चढ़नी होती है। बीच में एक और भी स्थान है, मंडी का अंग ही, जहाँ पर भेड़ें मुड़ती हैं जहाँ हम गये थे, ये तो भोटियों के घर थे और दुकानों दुकानों में खूब माल रहता है। कपड़ा तथा ऊन व्यापार की प्रधान चीजें हैं। तिब्बती लोग बदले में ऊन नमक तथा सुहागा देते हैं। तिब्बती घी तो तिब्बत में ही खप जाता है।

यहाँ मुझे तिब्बती घी की चर्चा कर देनी चाहिए। चमड़े के पात्रों में ही दूध दुहा जाता है, उन्हीं में वह जमाया जाता है और चमड़े के थैलों में ही उनसे नवनीत निकाला जाता है। लकड़ी तो होती नहीं, मथानी कैसे बने? बिना मथानी के ही काम चल सके तो मथानी बनाने वाला मूर्ख हो। एक थैले में (चमड़े के) दही डाला, उसका मुँह बाँधा और हिलाते चले गये। आवश्कयता होने पर पानी डाल दिया जाता है। ऐसे, नवनीत निकल आता है। ठण्डे के कारण वह बिगड़ता नहीं। अतः घी बनाने का रिवाज ही नहीं। इसी नवनीत को छोटी छोटी सिली

हुई खालों में वे लोग मंडियों में बेंच जाते हैं। हमने भी २½ सेर नवनीत खरीदा था, रास्ते में। उसका घी बनाया गया था। इसमें से एक विशेष गन्ध आती है मैं तो उसे सहन न कर सकता था। रु० का आठ छटांक मिल जाता है।

लोग तकलाकोट से खेचरनाथ का बौद्ध विहार देखने जाते हैं। वह लगभग १२ मील होगा, यदि अधिक न हो तो। मेरा शरीर तो आराम माँग रहा था। कुछ लोग वहाँ पर गये। प्रातः चल कर शाम को लौट आये।

पीछे रहने वाले लोगों ने उस दिन चावल खाये, मिलम के बाद पहली बार। वहाँ पर चावल गल जाता हैं; और ऊँची जगहों में तो कठिनाई होती है। तकलाकोट में मटर भी भर पेट खाये, कच्चे और पक्के भी। बथुवा भी वहाँ उपलब्ध था। बाबा भैरवनाथ के हम उपकृत हैं, बथुवे के लिए और एक मात्रा तक मटरों के लिए भी। नन्दराम तो हमारे लिए बहुत हितकर थे ही। उनके कारण तकलाकोट बहुत सुखप्रद रहा।

हमने तम्बू लगाया ही था परन्तु आधी पार्टी तो वैसे ही घर में रही थी, जिसकी छत कपड़े की होती है। खाना भी वहीं बना था। उस भूमि में तम्बू लगाना बहुत मुश्किल है। हमारा तम्बू भी तो वैसे घर में ही लगा था, केवल मात्र ऊपर से वह घर ढ़का हुआ नहीं था।

कुछ रोगियों की सेवा का मुझे अवसर यहाँ भी मिला था। भैरवनाथ के घावों पर मरहम पट्टी अपने हाथ से मैंने यहीं पर की। भैरवनाथ ने किस प्रकार से अपना हृदय खोला था, उस दिन, जब हम अकेले थे कितनी वेदना थी उस हृदय में और साथ ही साथ कितना विश्वास और प्रीति।

लिपुलेख का घाटा

(३१)

तिब्बत से तकलाकोट की ओर से भारत में प्रविष्ठ होने के लिए लिपुलेख का घाटा पार करना होता है--केवल एक ही घाटा। उसको ऊँचाई भी बहुत कम है। ठीक अनुमान तो लगभग १७५०० का होगा, यद्यपि किसी ने उसे १६५०० भी बताया है। हमने तो १८५०० का जयन्ती धुरा पार कर रखा था और हाल ही में उसी ऊँचाई पर गौरी कुण्ड गये थे। स्वामी जी ने भी बताया था कि उस घाटे में कठिनाई नहीं होती। इतने दिन तिब्बत में १५००० फीट की सामान्य ऊँचाई पर सांस लेते रहने से फेफड़ों का स्वभाव भी कुछ बदल जाता है। लिपुलेख को, इसीलिए देखने की उत्सुकता न थी परन्तु तिब्बत की कष्ट प्रदायिनी भूमि से पार पाने को तो थी ही। हम लोग ४ अगस्त को तकलाकोट पहुँचे थे। ५ को खोचरनाथ देखने के लिए कुछ लोग गये थे। ६ अगस्त प्रातः ही हम लोग उस घाटे के लिए रवाना होना चाहते थे।

पिछले अनुभव से यह सीखा था कि घाटे के लिए जितना जल्दी चल सकें उतना ही अच्छा होगा। उस दिन तो न केवल हम ही ३½ के लगभग स्नानादि के लिये निकल पड़े थे अपितु

औरों को भी हिला दिया था। ५ बजे तो हम बाँधकर भी तैय्यार थे। हमने अपना तम्बू भी गिरा दिया। बड़ी उत्सुकता से चंवरों वाले की राह देख रहे थे। नन्दराम के पास भी हो आये। उसी ने चँवरों का फैसला करवाया था।

दो दिन हम तकलाकोट में रहे थे। दोनों दिन मौसम बहुत अच्छा रहा। धूप थी कड़ाके की। वायु तो थोड़ी होनी अनिवार्य ही है। ६ की प्रातः भी साफ था परन्तु हम लोगों के तैय्यार होते होते, बादल घिर आये और थोड़े ही समय में बूँदाबाँदी होने लगी। फिर जोर से भी बरसने लगा। इतने में चंवरों वाला भी आ पहुँचा। प्रातः आठ का समय था। घाटे की ओर भी बादल घिरे हुए दीखते थे। चंवरों वाला प्रेरणा कर रहा था कि हम चल दें।

ऐसे मौसम में लिपुलेख भी भयरहित नहीं होता। जोहार के धुरे टुंग से भी दूर पड़ते हैं और इस प्रकार पर्वतमाला की आड़ में आ जाते हैं। टुँग अथवा शमगाँव की वर्षा से, यह निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि धुरों में बरस रहा होगा अथवा बर्फ गिर रही होगी। परन्तु तकलाकोट और लिपुलेख के घाटे के बीच में और कोई पहाड़ नहीं लगता। तकलाकोट की वर्षा विशेषकर जब कि लिपुलेख मेघच्छन्न दीखता हो तो कष्ट की सूचक है। इस घाटे में हवा बहुत ही घोर चलती है, और दोपहर के उपरान्त तो और भी तेज होती है। बुद्धि तो यही कहती थी कि आज न चलना चाहिये, यद्यपि अनुमान यह भी था कि हमारे घाटे तक पहुँचते पहुँचते खुल जायगा और हुआ भी यही देरी होने के कारण हम लोग उस दिन कालापानी न पहुँच पाते और घाटे के नीचे तीन मील पर तम्बू लगा कर पड़ाव करना

पड़ता। वहाँ का शीत भयङ्कर होना स्वाभाविक ही था, और स्थान की कमी भी। हमने आगे न बढ़ने का निश्चय किया। चंवर वाले को रात को ही वहाँ आ जाने का आदेश दिया गया, जिससे हम अगले दिन जल्दी ही चल पायें। कुछ लोग सोचते थे 'और यदि कल भी ऐसा ही हुआ तो' परन्तु मेरी तो इस तरह सोचने की आदत ही नहीं।

हमारी दशा विचित्र थी। सभी सामान बांधा हुआ था। तम्बू भी बँधा था और जमीन गीली हो रही थी। फिर से तम्बू परेड करने में आलस्य-सा प्रतीत होता था। कुछ देर समीप वाले कुन्दनसिंह की दुकान में आश्रय लिया। उनके पास 'अमृत बाजार पत्रिका' आती थी। कई एक प्रतियाँ उनके पास थी। अन्तिम संभवता २५ जुलाई की रही होगी। उसी दिन हमें पहिली बार पता चला कि डाक हड़ताल हो रही है। तिब्बत में तो व्यक्ति ऐसे प्रदेश में होता है जहाँ का दुनियाँ के साथ संबन्ध नहीं। डाक का कोई प्रबन्ध उस इलाके में तो मालूम नहीं पड़ता था। आते जाते लोगों के द्वारा ही वह अखबार कुन्दनसिंह के पास पहुंचे थे। तिब्बत की सारी यात्रा में जब भी मेरे मन में आया तो मैं किसी मित्र के नाम पत्र लिख डाला करता था, और उसे अपने पास रख लेता था। डाकघर की प्रतीक्षा थी।

लगभग १२ बजे वर्षा रुकी। इधर-उधर डोलते डोलते दिन कैसे कटता था? उसकी दुकान में भी अब जगह न थी, उसके पास व्यापारी आ रहे थे। वह मकान जिसमें बाकी लोग बसे थे, हमारे सामान के कारण अव्यवस्थित था। वहीं पर बैठ कर हमने उस दिन प्रातराश किया था। नरेन्द्र ने गत आगामी दिन के लिए पंजीरी (गुड़पापड़ी) बनाने का साहस किया था।

आटा ठीक भुन गया है या नहीं, यह देखने वाला पारखी था मैं, फलतः वह बिगड़ गई। गुड़ तो मिला ही दिया गया, परन्तु आटा कच्चा रहा। उसका एक ही सुन्दर इलाज था लप्सी बनाई जाय। सो ही बनाई। वह कटोरदान प्रातः खाली किया गया।

कुछ तो ठण्डा हो रहा था इसलिए, और कुछ निकम्मे होने के कारण भूख बहुत मालूम हो रही थी। लप्सी तो पता नहीं चली किधर गयी होगी। तकलाकोट में मटर का सत्तू बनता है। थोड़ा दूसरा सत्तू भी था। सेर भर मटर के सत्तू में से थोड़ा ही बचा और दूसरा सत्तू भी खाया गया। खाने वाले भी ६-१० थे इससे भी—डेढ़ छटांक सत्तू से कुछ देर के लिए आश्वासन—भर हुआ अधिक नहीं। अखबार पढ़कर मन बहलाया गया, और भूख भी।

आखिर तम्बू लगाना ही पड़ा। उस घर में बसने पर ही चैन मिली अन्यथा कुत्ते की सी गति प्रतीत होती थी। उधर खाने की भी सुधि होने लगी। कल रास्ते में हमें खाने को कुछ न मिलना था। स्वामी जी का अद्वितीय सुझाव था—परांठे डाले जांय। रात के १०½ बजे तक पराँठे बनाये गए। खाना, लगभग ३ बजे ही खा लिया था। मटर का शाक भी तैयार हुआ। मैंने तो रात को ही सभी कुछ चख लिया था।

अगले दिन प्रातः ही फिर तैयार हुए। चँवर वहीं पर थे। मौसम अनुकूल था। वह तो केवल भीरु हृदयों की व्यर्थ कल्पना थी। नन्दराम थोड़ी दूर तक पहुँचाने आया और लाल बांस मिश्री के दो कूजे गोविन्द वल्लभ को दे गये 'धुरे में काम आयेंगे' ऐसा कह कर। भोटिये प्रायः सज्जन होते हैं। इसका प्रमाण हमें नन्दराम के तीन दिन के समुचित व्यवहार से भी मिल गया था।

नदी पार की गई और सामनी ओर तकलाकोट के मुकाबिले में ऊँचे पर बसे हुए गांव में से निकल कर हमने एक विशाल मैदान में प्रवेश किया। रास्ते में ऊची ऊँची पताकायें थीं। उनको देखकर मुझे उस एकाकी अद्वितीय पेड़ का स्मरण हो आया जो हमने तिब्बत के इस सारे भ्रमण में देखा था। वह पेड़ तकलाकोट आते में हमें मिला था, तकलाकोट से दो तीन मील की दूरी पर उधर ही। उसकी जाति का तो मुझे पता नहीं परन्तु प्रतीत वह विस्मयकर ही होता था। तिब्बत में पेड़! अकेला! एकमात्र! वह एक मकान के आंगन को सुशोभित कर रहा था।

वर्षा ऋतु में मैदान में जैसे गांव का रास्ता हो जाता है, ठीक वैसा ही वह चौड़ा चौड़ा रास्ता हो रहा था। दोनों ओर खेत थे और रास्ते में पानी फैल रहा था। लगभग २ मील जाने पर खेती समाप्त हो जाती है। सभी ओर ऊजड़ ही दीखने लगता है। डामा के झाड़ भी नहीं दीखते। दाईं ओर नीचे वही नदी जिसको हम पार करके आये थे, घरघराती हुई चली जाती है। अलक्षित ही हम थोड़ा थोड़ा ऊपर चढ़ते चले जाते हैं।

तीन मील चलने पर गोविन्द वल्लभ ने घोड़ा मुझे दे दिया। मरियल सा घोड़ा था। न उसमें स्फूर्त्ति थी, न समझ। लगाम के इशारे तक को न समझता था। रास्ते में एक नदी पार करने में तो उसने कमाल ही कर दी। रास्ता छोड़ ऊपर को भागा परन्तु लट्ठी तो बिगड़ों को राह पर लगा देती है। एक चंवर भी सवारी का साथ में रक्खा था। मैं चल तो सकता था, परन्तु इतना परिश्रम करना मैंने स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित न समझा।

तकलाकोट से ४ मील की दूरी पर भी एक पड़ाव है। वहाँ धर्मशालायें बनी हैं। उससे एक मील आगे से चढ़ाई आरम्भ

होती है। हम लोग लगभग ८ बजे इसी स्थल पर आ गये थे। यहाँ पर पानी भी था। मातायें और चंवर पीछे थे, आध घण्टा बाद पहुँचे।

हमारा साथ तकलाकोट से कुछ बढ़ा था वे मुन्स्यारी के भोटिये, ससुर-जमाई तो मानसरोवर से ही अलग हो गये थे। उन्हें तो ज्ञानिमा जाना था। एक वृद्ध साधु, लम्बी सफेद दाढ़ी वाले हमारे साथ ही तकलाकोट से चले थे, और दो व्यक्ति और भी। वे भाई भाई थे। कैलाश यात्रा के लिये आये थे। दुर्भाग्य-वश मानसरोवर पहुँचते ही बड़ा भाई जोर से बीमार पड़ गया। लाचारी से वहीं से लौटकर आना पड़ा। वह तकलाकोट की धर्मशाला में थे। मुझे पता चला तो कुछ औषधि दी। थोड़ा लाभ हुआ। उन्होंने हमारे साथ से लाभ उठाने के विचार से साथ ही चलना पसन्द किया, यद्यपि उसकी अवस्था की माँग थी कि अभी दो दिन और वहीं पर रहें। बेचारों के पैसे भी समाप्त होने को थे। वे दमनीय स्थिति में थे।

वहीं पर जल के समीप बैठकर खाना पीना हुआ। माताओं ने तो गुड़ पापड़ी ही खाई। पराठे हम लोगों के उदरस्थ हुए। घाटा पार करने की हिम्मत पैदा हो गई। उस वृद्ध साधु ने गुड़ भेंट किया। सफर में मीठा खूब भला लगता है और तत्काल खाया जाने वाला भोजन भी होता ही है। धन्यवाद पूर्वक स्वीकृत हुआ। भैरवनाथ का रास्ता देखते रहे, परन्तु वह दीखते ही नहीं। चले तो हमारे साथ ही थे, पुल के पार भेंट हुई थी; परन्तु यह उन्होंने मुझसे कह दिया था कि अब मैं आपके साथ न चल पाऊँगा। बहुत थक गया हूँ। अस्तु, हम लोग चल दिये।

गोविन्दवल्लभ घोड़े पर थे, और मैं चँवर पर। दो व्यक्ति चँवरों को हँकाने वाले थे। अब हमारा सामान चार चँवरों के लायक ही था। वह बीमार भी चँवर पर था। ये चँवर वाले उतने सरल न थे जितना तोपगे था, और न ही सामान का इनको उतना ध्यान था जितना उसको ध्यान रहता था। चँवर तो तेज चलते थे पर स्वभाव के भी तेज ही मालूम होते थे। शायद दोनों भाई भाई रहे होंगे।

उस नदी के किनारे किनारे चलने के बाद, रास्ता नदी के उस पार हो जाता है। पहिले तो मन्द मन्द चढ़ाई होती है, फिर उस पार जाकर, आगे जाने पर खड़ी चढ़ाई लगतीं है। घाटा सामने दिखाई देता है। बस, ऐसा ही प्रतीत होता है। तीन छोटी छोटी चाटियाँ, घाटे को निशानी है। रास्ता उनसे बाँये को है।

नीचे नदी में कीचड़ सा बहुत दीखता है। रास्ते में कहीं कहीं इधर नीचे की ओर ही घास भी है, परन्तु और ऊपर चढ़ने पर तो वही बर्फ से चूर्णीकृत पत्थर हैं।

प्रायः सभी लोग ही अच्छे चले आ रहे थे। धुरे से इधर लगभग फरलाँग भर पहिले मुझे पता चला कि पावती का सिर चकरा रहा है। परन्तु जब मैंने उसके लिये सवारी छोड़ने को कहा तो वह उठ कर चल दी। अन्तिम चढ़ाई टेढ़ी मेढ़ी है और काफी खड़ी। वहीं पर नीचे गहर में बर्फ की शिलायें दीखती हैं। चायें को तो ऐसे लगता है मानो गिलेशियर हो।

लगभग १२½ बजे हम लोग घाटे पर थे। वहाँ पर एक रस्सी पर झंडियाँ बँधी थीं। दोनों ओर चट्टानें थीं। बीच में से १०

फुट का रास्ता रहा होगा। चट्टानें बहुत ऊँची न थीं; केवल ६, ७ फुट।

वह सचमुच सौभाग्य का अवसर था। हम लोग कैलाश-यात्रा करके सकुशल भारतभूमि में प्रविष्ट होने जा रहे थे। अन्तिम घाटा भी आज विजय कर लिया था। प्रसाद बँटना ही चाहिये था सो बंटा। स्वामी जी का आदर किया गया। वे ही तो हम सब में वयोवृद्ध थे और सन्यासी भी।

लिपुलेख में वायु बहुत वेगवती होती है, इस बात का अनुमान हमें उस अन्तिम फरलाँग भर की चढ़ाई में हो गया था। घाटे में व्यतीत की गई दस मिनटों में ही हाथ पाँवों को जाड़ा होने लगा था और शरीर भी ठण्डक प्रतीत करने लगा था। उस दोपहर की धूप में यह दशा थी, तो बादल होने पर कैसा होता?

घाटे से नीचे को तेज उतार है। घाटे के इस ओर भी विशेष वर्फ न दीखती थी, कहीं कहीं दूरी पर वर्फ़ की छोटी छोटी शिलायें थीं। रास्ता इतनी तेजी से उतरता चला जाता है कि पाँव यत्न से ही रोके जाते हैं। तीन मील तक इसी तरह लुढ़कते ही जाना होता है। घुटने ढीले होने लगते हैं। मैंने भी सवारी छोड़ दी, गोविन्दवल्लभ ने भी, और पैदल चलने लगे। कपूरी लाल तथा स्वामी जी हमारे साथ थे। वहाँ नीचे ३ मील पर जो धर्मशाला थी, उसके सामने हम लोग रुक गये। आशा थी, पानी मिलेगा। परन्तु वह जल प्रवाह जो ऊपर से दीखता था, पृथ्वी के नीचे चला गया था, वहाँ पर। नीचे जाकर वो फिर प्रगट होता था।

कहाँ जोहार के तीन घाटे और कहाँ लिपुलेख ! कहाँ राम राम और कहाँ टें टें। यही मन में रह रह कर आता था। न यहाँ वह विशालता थी, न वह वातावरण और न ही वर्फ के दृश्यों का वैभव। वहाँ तो मीलों तक व्यक्ति एक अद्भुत वातावरण में रहता है और वर्फ के इतने चमत्कार पूर्ण वैभव शाली दृश्य दीखते हैं कि वह सभी आज भी स्वप्न सा लगता है परन्तु यह तो बच्चा सा है, लिपुलेख का घाटा। घाटा नहीं, घाटी सी है ! इसकी ऊँचाई भी उसके मुकाबले में १००० फीट कम है। सरल तो है परन्तु उतना ही आनन्द शून्य भी। जो क्लेश उन घाटों को पार करने में उठाया जाता है, उन दृश्यों और वातावरण के मुकाबले में कदापि अधिक नहीं; कम ही तो है।

जोहार में उन घाटों से २८-२५ मील इधर से ही वनस्पति अदृश्य सी हो जाती है। वर्फ से जले पहाड़ और तिब्बत की सी शरीर चाट डालने वाली वायु का परिचय मिल जाता है; परन्तु इधर लिपुलेख का कुछ अन्य ही हिसाब है। लगभग ५ मील नीचे जाने पर हरा भरा दीखने लगता है। गगनचुम्बी, नोकीली चोटियाँ और पहाड़ों पर छोटी छोटी घास निरन्तर दीखती है। और आगे जाने पर तो खेत भी पड़ने लगते हैं। रास्ते में अनेक धर्मशालायें बनी हैं। रास्ता चलता भी बहुत है। इधरवाले तो इसे खेल समझते हैं। परन्तु जोहार के घाटों को तो भोटिये लोग भी बड़ा महत्व देते हैं। जान की बाजी लगा कर जाते हैं।

कालापानी

(३२)

उस रात हमें कालापानी पहुँचना था। वहाँ पर नन्दराम का एक मकान था, वहीं धर्मशाला भी था। उसके चौकीदार के लिए चंवर वालों को संदेश दे रखा था। लिपुलेख के घाटे से आने वाली नदी को एक पुल से पार करना होता है। यहाँ से कालापानी का पड़ाव लगभग १ मील होता होगा।

पुल पार कर के रास्ता उसी नदी के किनारे किनारे जाता है। इस नदी में दूसरी दिशा से एक और नदी आ मिलती है। बड़ी प्रतीक्षा के बाद आखिर पुल आया। पुल से तो बनस्पति का साम्राज्य सा आरम्भ मालूम होता है। पहाड़ हमें नंगे बिल्कुल ही नहीं दीखते। झाड़ियाँ और घास बहुत ही मिलता है। घास छोटा छोटा है। दोनों ओर ऊंचे पहाड़ों का सिलसिला चला जाता है। नदी की गर्जना भी साथ साथ चलती है।

संध्या हो रही थी। थकावट भी थी ही। मैं पहिले पहिले ही बीमारी के बाद इतना चला था। स्वामी जी तथा गोविन्द वल्लभ आगे थे, मैं उनके पीछे आ रहा था। कपूरीलाल घोड़े पर थे और नरेन्द्र ने चंवर संभाल लिया था मातायें भी पीछे चली आ रही थीं। हम इस आशा में थे कि आज तम्बू परेड न होगी।

आखिर मैं भी कालापानी आ पहुँचा। उस नाम की सार्थकता का परिचय तो प्राप्त नहीं हुआ।

वे दोनों वहीं पर धर्मशाला की आँगन की दीवार पर थे। वहाँ पर खूब चहल पहल थी। नीचे के स्थान सभी घिरे थे। चौकीदार लापता था। हमने जीवनसिंह को तकलाकोट से विदा कर दिया था और उसके साथ ही दोनों तम्बू। तोपगे भी चला गया था, ज्ञनिमा के लिए। हमारे पास एक ही तम्बू था। यदि इस धर्मशाला में स्थान न मिला तो मुश्किल पेश आयेगी, यह स्पष्ट था। चौकीदार को बुलवाने का प्रबन्ध उन्होंने कर रक्खा था। वे स्वयं नीचे के मकान में गये थे। थोड़ी देर में चौकीदार आया। उसने ऊपर एक कमरा देना मान लिया। चंवर भी आ गये, मातायें भी और वह रोगी भी, सकुशल वहाँ पहुँच गया। नरेन्द्र की दवाइयों का उपयोग मेरे द्वारा होता था। काम वे अच्छा करती थीं। वहाँ परहेज तथा पथ्य की आवश्यकता के कारण अपना बक्स मैंने बन्द ही रहने दिया। कभी कभी ही उसका उपयोग करता था।

वहाँ धर्मशाला के पास मैदान था। उसमें तम्बू लगाया गया उसके बिना गुजर कैसे होती। हवा तेज चल रही थी। तकलाकोट से यहाँ पर अधिक ठण्ड थी। वैसे ऊँचा तो शायद तकलाकोट ही अधिक हो। पास ही में एक पहाड़ी नाला था। उसका पानी खूब ठण्डा था। तकलाकोट में तो एक धारा थी जिसका पानी बहुत ठण्डा न था। वैसे तो वहाँ तकलाकोट में पास ही नदी बहती थी, गहरे में परन्तु उसका पानी बहुत शीतल था। कपड़े तो उसी में धोये गये थे।

चौकीदार बहरा था, और कुछ बेवकूफ भी प्रतीत होता था ऊपर दो कमरे थे। छोटे कमरे में कुछ हूणिये लोग थे। वहाँ आग

जलाकर चायपानी कर रहे थे। परन्तु हमारे दूसरे कमरे में चूल्हा लगाने के लिए वह राजी नहीं था। इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ ऊन रखी थी, परन्तु धुआँ तो दूसरे कमरे से भी इधर ही आता था। उस हवा में उस ठण्डक में, रात को खुले में खाना बनाना भी तो असम्भव था। वह मान भी गया जल्दी ही, व्यर्थ में दंगे पर उतारू हो रहा था। मातायें खेतों में से थोड़ा फाफर का शाक तोड़ लाई थीं। वे खेत उसी के थे। इससे भी वह बहुत जल रहा था।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क काला पानी से शुरू हो जाती है। अन्धेरा होते होते सड़क के कुली लोग आ गये और एक कद्दू लाये। उस दिन सूखी सब्जी थी भी नहीं और मन भी उसका विचार करके ही झुंझलाता था।

गोविन्दवल्लभ के चौके के नियम जो तिब्बत में ढीले पड़ गये थे। फिर से लागू हो गये। हम लोग अब पवित्र भारत भूमि में जो आ गये थे। उनसे उस संध्या को इस विषय में व्यर्थ की अटपटी सी चर्चा भी हुई।

तकलाकोट में और यहाँ स्वामी जी का डेरा हमारे तम्बू की बगल में होता था। वे उसी में सहर्ष गुजारा कर लेते थे।

आज भी हम दुनियाँ में तो कुछ आ गये थे। प्रकृति को हरियाली थी, मनुष्य भी देखने को मिलते थे और खाने को भी सब्जी मिल ही गई थी परन्तु पूरा पूरा इस दुनियाँ का भान तो डाकघर वाले स्थान पर पहुँच कर ही होने वाला था। गर्ब्याग हमारे लिये इधर से पहिलः डाकघर था और अंग्रेजी भारत की पहली नाम लेने योग्य स्थायी बस्ती। बस्ती तो काला पानी भी थी, परन्तु यह तो अधिकतर पड़ाव ही था।



गर्व्याग की ओर

(३३)

काला पानी के इधर से ही पेड़ दीखने लग जाते हैं। ऊँचे ऊँचे सीधे गगनचुम्बी शीश उठाये हुए पर्वतों के बीच में वह मैदान सा था। नदी की ओर गर्जन उस स्थल को गुंजा रही थी। यही नदी तो काली के नाम को धारण कर लेती है।

प्रातः ही लोग चल दिये। पानी का बाहुल्य था ही। कुछ दूर तक तो वह बड़ी नदी दायें को थी, परन्तु फिर पुल से हमने उसे पार किया। जब हम चले तो ठण्ड हो रही थी। थोड़ी ही देरी में धूप निकली। उस पुल से पार की ओर बैठ कर हमने उसे तापा था। और पुल के इधर ही एक वेगवान् जल प्रवाह की ओर इशारा कर मुझसे किसी ने कहा था, यहीं काली नदी की जड़ है। अब काली नदी हमारे बायें पर थी। कभी रास्ता कितना भयंकर रहा होगा—इसका अनुमान नवनिर्मित रास्ते से हो सकता था। यह किसी भोटिये ने धर्मार्थ बनवाया था।

हम लोग रागा वृक्षों के जंगल में से चल रहे थे। रागा बिल्कुल चीढ़ का सा पेड़ होता है। उसके पत्ते छोटे तथा मोटे होते हैं। उनकी लकड़ी इमारत के काम आ सकती है। इतने दिनों के बाद जंगल के दर्शन और उसमें से चलना, छन छन कर आती हुई धूप और साँय साँय करती हुई वायु, ये क्यों न अच्छे

लगते ? तिब्बत के ऊजड़ प्रदेश में तो आँखें तरस रही थीं, ऐसे दृश्यों के लिए।

काली में वेग है, परन्तु गोरी तो गोरी ही थी। उसकी उपमा काली कहां कर सकती हैं ? न वेग में और न, ही किनारे के सौन्दर्य में। गोरी के अद्भुत वानस्पतिक वैभव पूर्ण दृश्यों का स्मरण होने लगता था, उस काली को देखकर।

कालापानी से गर्ब्यांग ११ मील है, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क के रास्ते जो काली के बायें किनारे आती है। परन्तु बाँयें किनारे से होकर जाने से तो केवल ८ ही मील होता है, अतः यही रास्ता चलता है। हमने भी काली को फिर से पार किया और वही रास्ता लिया।

पुल पार करते ही हम नैपाल राज्य में थे। काली ब्रिटिश भारत तथा नैपाल की सीमा है। वह डोटी का इलाका है जो इतने डोटियाल देता है, कुली के काम के लिए। रास्ता बहुत सुन्दर था। रागा के इतने तरतीब से उगे जंगल ! मैंने बहुत कम इतने तरतीब से उगे जंगल देखे हैं। और प्रातः के प्रकाश में सूर्य की छाया में उनकी हरियाली और भी गहरी दीखती थी। काली से जरा हम दूर हट कर जा रहे थे। काली चक्कर काट कर आती है।

पेट को भूख व्याकुल करने लगी और प्यास भी लग आई, जैसे ही धूप लगी। रास्ते में एक गांव पड़ा। गौवें तो थीं परन्तु दूध प्राप्य न था। आखिर एक मैदान में हम लोग रुके ही; क्षुधा-निवृत्त क लिए। खाने का सामान पीछे था। क्षुधा का पहला नम्बर था। उसे कुछ आहार देकर आगे बढ़े तो पानी भी मिल

गया। चंवर पर नरेन्द्र चले आ रहे थे और घोड़े पर गोविन्द वल्लभ। मुझे तो टाँगों को अभ्यास करवाना था। दूसरे, सवारी पर भी तो थकान प्रतीत होती है।

'पहाड़ी के उस कोने पर गर्ब्यांग है' स्वामी जी का ऐसा कहना, आशा जागृत कर रहा था कि बस जल्दी ही वहाँ पहुँचेंगे चलने में आशा ही सबसे अधिक कष्ट देती है। 'निराशः सुखी शेते' ठीक है। ऐसा समझे 'दिन भर चलना होगा आखिर पहुँच तो जायेंगे ही' तो व्यक्ति मजे में रहता है। धीरे धीरे नीचे उतरने लगे, नदी के पार गये। सामने पुल भी दीखा। वहाँ पर खूब तेज वायु चल रही थी और उससे पुल काँप रहा था। तिब्बत की निशान स्वरूपा-झँडियाँ यहाँ भी थीं।

पुल पार होने पर भी गर्ब्यांग के कोई चिन्ह दिखाई न दिये रास्ता ऊपर ही ऊपर जा रहा था। इधर तो चट्टानें थीं, ऊपर कुछ हरियाली थी। शायद वहीं पर गाँव होगा। वह चढ़ाई भी (आध मील से कम क्या होगी) ले ली। वह उपत्यका सी भूमि थी। उस पर्वत की गोदी में स्थित मैदान में चारों ओर हरियाली ही हरियाली थी। जौ के खेत लहलहा रहे थे। फाफर ने भूमि को ढक रखा था। और प्रकार प्रकार के झाड़ घास-पात हो रहे थे। उसी मैदान में दायीं ओर को डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का बंगला था, जो आज हमारा विश्राम-स्थल होने वाला था।

हम लोग दोपहर को वहाँ पहुँचे, लगभग ११ का समय होगा। सामने की ओर-काली पार, विशाल पर्वत थे। उनके गगनचुम्बी शिखरों पर बादल मँडरा रहे थे मानो कभी उठते हों और कभी बैठते हों। वे सारे पर्वत घास से श्यामल हो रहे थे। बीच बीच में पेड़ों के कारण काले से लगते थे। आकाश निर्मल

था और धूप वहाँ प्रिय ही लग रही थी। गर्म्यांग ठण्डा स्थान है।

वह बंगला ऐसा था मानों बरसों से उसमें कोई टिका न हो। दर्वाजे बन्द थे। भीतर से पत्थर लगा रक्खे थे। और बाहिर रास्ते में भूतकेश के पेड़ हमारा स्वागत कर रहे थे। भीतर आँगन में ऊँची ऊँची घास थी और उसमें नीले नीले फूलों को छींटा सा था। जगह बड़ी थी और अलग भी चारों ओर से घिरी होने के कारण वायु से बचाव था।

थोड़ी ही देर में बाकी परिवार भी आ गया। हम लोग आकर पानी पी चुके थे। थोड़े मटर के सत्तू फाँककर। और खाने का आयोजन करवा दिया था, जब तक चंवर आये। डाक-घर से डाक आई। प्रिय मित्रों के समाचार आये। कइयों को शुभ कामनायें और कइयों की समस्यायें सामने आईं। प्रतीत होने लगा कि हम पुरानी दुनियाँ में पुनः लौट आये हैं। अब हम वास्तव में भारत-भूमि में थे। लोगों की बातें हम समझ सकते थे और लोग हमारी। और, सामने दीख रही थी भारत की उर्वरा शस्य श्यामला भूमि! भारत मां! तुझे नमस्कार है। चिर-प्रवासित जैसे पुनः घर लौटने पर अनुभव करता है आज मुझे भी वैसा ही लग रहा था। यद्यपि यह भूमि अदृष्ट पूर्व थी. अपरिचित थी, परन्तु थी वह भारत भूमि ही। तिब्बत का वर्णन शीतल मरुस्थल न था।

कैलाश जितना ही आनन्दप्रद है, ऊंचा है, भूमि—उतनी ही दुखदायी और निकृष्ट सी लगती है। दैव की विचित्र लीला है। परन्तु इसमें भी अर्थ है। कैलाश तक पहुँचना सुगम कैसे हो सकता है?

तिब्बत के वासियों को वहाँ के पत्थर प्रिय होंगे और वहाँ की शरीर वेधिनी हवायें भी, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं। वह तो उनकी मातृभूमि है। वहीं की मिट्टी से तो उनका शरीर बना है और उसी में बीता है उनका शैशव। मैं जब उसे निकृष्ट कहता हूँ तो केवल सीमित दृष्टिकोण से ही तो। यही सीमा—मानवीय दृष्टिकोण की सीमा है, यही सीमा अपूर्णदर्शिता की सीमा है। यदि हम हूणिये के हृदय में बैठ सकें और उसके नेत्रों से तिब्बत भूमि को देख सकें तो हमारे लिए वह वैसी ही प्रिय होगी जैसे भारत भूमि। उसका अपना ही सौन्दर्य है। अस्तु!

संध्या-समय बादल घिर आये। वे भीतर भी आने की चेष्टा करते थे। सभी ओर धुआँ ही धुआँ था, बादलों का। वायु भी चलती थी। जरा ठण्ड हो गई। परन्तु कैसा सुहावना था। वर्षा ऋतु का ढंग था। इतने दिनों के बाद आज यह देखने को मिल रहा था। तिब्बती बादल तो ऊपर ही ऊपर रहकर ही गजब ढा देते हैं। वे नीचे आते ही नहीं। नीचे आने पर तो प्रलय ही करदें।

हम लोग बाकी लोगों को पीछे छोड़कर भागने की फिक्र में थे। अब मेरी टाँगें भी इस लायक हो रही थीं दिन में हम टहलने गये थे। एक कुली का प्रबन्ध भी करना था, कपूरीलाल तथा नरेन्द्र के सामान के लिये। २ पड़ाव के लिए—१८ मील के लिए ७ रुपये में कुली मिल रहा था। लड़ाई का सबसे अधिक दुष्प्रभाव मानों भारत के इस उत्तरी कोने पर ही हुआ हो।

गबयांग मे पानी की बड़ी कमी थी। थोड़ा सा पानी धारा में था और भरने वाला सारा गाँव हम तिस पर अधिक। पीने को तो मिलता ही था। परन्तु दूसरे ही दिन प्रातः मुश्किल हुई। एक कमण्डल भर जल से अंगपोंछ हुआ। आधा मील नीचे नदी

में उतरने की हिम्मत न थी। बूंदाबांदी ने ठण्डा भी खूब ही कर रखा था।

रात को गर्ब्यांग में भैरवनाथ हमारे यहाँ आये। काला पानी तक तो वह पहिले दिन पहुँचे ही न थे। रास्ते में शायद किसी धर्मशाला में टिके। गर्ब्यांग शाम को पहुँचे थे। दिन में किसी गाँव में खाया। केवल खाया ही नहीं, उस रोगी और उसके भाई को भी माँग कर खिलाया। भिक्षा करने में भैरव बाबा चुस्त थे। और खिलाना भी जानते थे। वे हमसे विदा लेने आये थे। अब वे दो तीन दिन गर्ब्यांग में ही विश्राम करना चाहते थे। गाँव में धर्मशाला में उन्हीं के साथ वे टिके भी थे।

———

मालिया और जिप्ती

(३४)

हम लोग दूसरे दिन खा पीकर ६½ बजे रास्ते लग गये होंगे। इस रास्ते के बारे में सुन रक्खा था कि खराब है, चढ़ाई और उतार बेढब हैं। रास्ता पहिले तो ऊपर चढ़ता चला जाता है। गर्व्यांग ऊंची जगह है ही और अधिक ऊंचे जाते जाते हम लोग इस पर्वत की पृष्ठ भूमिका पर पहुँच गये। बादल घिर आये और बूँदाबाँदी होने लगी। हम लोग लगभग १½ मील आये होंगे। इस स्थल की मृदुल घास और जड़ी बूटियों की बहुलता धाबुड़ी की चढ़ाई याद करती थी। पिण्डारी देखने में वह पार कर रक्खी थी। थोड़ी देर में ही वर्षा जोरों से होने लगी और रास्ता भी नीचे की ओर बढ़ने लगा, बड़ी तेजी से; पाँव टिकाना मुश्किल हो रहा था।

उतरते उतरते जब हम बुद्धि गांव में पहुँचे तो वर्षा बन्द हो गई थी। गांव की गोबर से सनी गली को पार कर सामने मैदान रास्ता देख कर आश्वासन हुआ। उतरते उतरते भी तो घुटने ढ़ीले पड़ जाते हैं।

थोड़ी धूप निकली। रास्ता आखिर हमें काली के किनारे पर ले गया। काली में भी उद्दण्डता है, गर्जना भी है परन्तु वह गोरी का सा वैभव नहीं। यहां पर भी जंगल था, परन्तु वह जंगल जो

हमने मुन्स्यारी से बखुड़ियार जाने में देखा था, उसकी तुलना यह कदापि न कर सकता था। न तो किनारे पर चट्टानें ही दीखती थीं, लता वृक्षों से आच्छादित और न ही उठते हुए सीकर के बादल।

काली तट से रास्ता फिर धीरे धीरे चढ़ने लगता है। जल-प्रपात तो ठीक सड़क में आकर गिरते हैं। पथिक कुछ भीगे बिना तो निकल नहीं सकता। थोड़ा बहुत भीगना ही पड़ता है, छाता बरतने पर भी। धूप भी आई और पसीना भी झलकने लगा।

और, ऊपर चढ़ते चले गये। हम लोगों ने पहाड़ की सारी ऊंचाई ही फाँद दी थी फिर बादल घिर आये। हवा चलने लगी। हम लोग बादलों में से चल रहे थे। स्थान २ पर शीतल जल के झरने अपने निर्मल पेय से पथिक की प्यास ही न बुझाते थे अपितु थकावट भी हर लेते थे। ऊपर के हिस्सों में पहाड़ों पर घास थी, लम्बी लम्बी। उस गहरे घने हरित वस्त्र से मानों वे लदे थे और बीच में थीं विशाल चट्टानें जिनकी बगल से रास्ता जाता था।

रास्ता फिर उतरता उतरता नदी के किनारे ले जाता है। शाम होते होते हम वहाँ पहुँच गये और वे झोंपड़े अदृश्य हो गये मेरे साथ कपूरीलाल थे। हम लोग लौटकर पड़ाव में पहुँचे। वह रास्ते से हटकर ज़रा ऊँचाई पर ही था। केवल २-३ झोंपड़े थे और एक पक्का मकान जिसमें दो कमरे थे। इसको धर्मशाला कहा जाता है। उधर के सेवक संघ ने उसे बनवाया था। झोंपड़े में डाक के हरकारे और सड़क के कुली रहते हैं। हमारे ऊपर पहुँचते पहुँचते बूंदाबाँदी होने लगी थी। थोड़ी ही देरी में गोविन्दवल्लभ तथा स्वामी जी भी आ गये।

तम्बू लगाने के लिये ज़मीन तैय्यार की जा रही थी परन्तु वह श्रम व्यर्थ ही रहा वर्षा तेज थी और वह गीली जमीन और भी भीग गई। तम्बू न लगाकर उस धर्मशाले में ही टिकने का निश्चय हुआ।

उस धर्मशाला का कोई चौकीदार तो था नहीं। अतः मनुष्य और भेड़ बकरियां उस निर्जन स्थल में समान रूप से आश्रय लेती थीं। एक बकरी तो अभी भी एक कोने में दुबक कर बैठी थी। बकरी व भेड़ों की मींगनों की वहां परतों पर परतें जमी हुई थीं। अपनी ओर से खूब सफाई की गई, परन्तु उसके साथ साफ होने की भी तो सीमायें थीं। छोटे कमरे में थोड़ी घास डाली गई और वहां हमारे बिस्तर लग गये। इधर बड़े कमरे में मातायें तथा दुर्गादत्त रह गये। रसोई का आयोजन भी वहीं करना था।

रात बड़े मजे की बीती। वर्षा तेज हुई तो अनेक स्थलों पर छत टपकने लगी। भीतर ही बिस्तर को थोड़ा समेट कर, पानी को रोकने के लिए बर्तन रख दिये गये और दो छाते खोल कर तान दिये गये। बखुड़ियार की याद ताज़ी हो रही थीं; परन्तु यहां पर उतना टपकता भी तो न था, मानो सभी कुछ वहाँ से कम हो। रात को जल्दी ही वर्षा बन्द हो गई। लगभग ९ बजे के, सब सो गये।

वहाँ बिल्कुल एकान्त था। वह स्थान जंगल में है। वही वहाँ की बस्ती है। काली का गर्जन ऊपर भी सुनता ही है। बाकी सभी के सो जाने पर, मैं लैम्प की रोशनी में बैठा लिखता रहा। कुछ पत्रों के उत्तर जल्दी ही देने आवश्यक प्रतीत हो रहे थे।

वह चेतना, जिसको मैंने गोरी-कुण्ड के पथ पर, दूसरी गुम्फा से आगे, कैलाश दर्शन में, अनुभव किया था, जागृत हो

उठी। उसी के फल स्वरूप वे शब्द कैलाश की स्तुति में लिखे गये जिन्हें मैं ऊपर लिख आया हूँ।

अगले दिन हमें ७ ही मील चलना था, परन्तु यह रास्ता और भी भयानक था। कुछ वर्ष पूर्व सड़क पहाड़ के ऊपर ही ऊपर जाती थी। लगभग १२ मील जाना होता था और सारे रास्ते में कहीं पानी न था। उस रास्ते को निरपनिया का रास्ता कहा जाता था। लोग नाम सुनकर डर जाया करते थे परन्तु अब जो रास्ता है वह भी रुचिकर नहीं। प्रायः सारा रास्ता पत्थरों से पटा है और अधिकतर भाग सीढियां ही हैं।

इसी रास्ते पर हमें एक प्रपात देखने का सौभाग्य मिला। बहुत ऊँचाई से लगभग २०० फीट की ऊँचाई से पानी की धारायें गिरती थीं, चट्टानों के साथ ही साथ। चट्टान से टकरा कर वह सीकर ही सीकर हो जाती थी। वह मन्द गति से नीचे आती थी। हवा द्वारा अपने पथ से काफी दूर ले जाई जाती थी। वास्तव में तो उसे जल प्रपात की अपेक्षा सीकर प्रपात कहना अधिक उचित होगा। बद्रीनाथ के आगे वसुधारा की स्मृति जागृत हो जानी स्वाभाविक है। वहाँ भी सीकर स्नान होता है, परन्तु यहाँ तो पथिकों का सीकर-स्नान बलात् हो जाता है। नीचे समीप ही काली बहती है। जब हम वहाँ से निकले तब आकाश में बादल घिर रहे थे। उस मन्द प्रकाश में तो प्रपात की शोभा और भी बढ़ चढ़ कर थी।

उन सीढियों को चढ़ते चढ़ते तो हम लोग उन विशालकाय पर्वतों की चोटियों से बातें करने लगते थे और फिर उतरते उतरते नदी के तट पर आ जाते थे। पिंगपौंग की चिड़िया की सी गति

थी, उस रास्ते की और उस पर चलने वालों की। जल प्रपात थे ही, झरने भी थे। ऊपर भी थे। ऊपर जाने पर बादलों में चलना होता था, जिससे शरीर की गर्मी दूर हो जाती थी, परन्तु रास्ता है वास्तव में बेढब ही। इंजिनीयरिंग का दिवाला शायद यहीं मिटा है। चट्टानों के ऊपर भी तो काटकर ही रास्ता बना था। वहां काम ज़रा अधिक मात्रा में करने से रास्ता काफ़ी सुगम हो जाना असम्भव प्रतीत नहीं होता।

भोटियों के सतत संगी रहते हैं कुत्ते। वे विशालकाय होते हैं बाल भी बड़े बड़े होते हैं। वे भेड़ों को रास्ते रास्ते ले जाने के काम में और उनकी रक्षा के काम में दक्ष होते हैं। परन्तु होते भयंकर हैं। आदमी की टांगें भी फाड़ देते हैं। इन कुत्तों का थोड़ा परिचय पहले से था। बुर्फु में भोटियों के घरों में जाने से वह परिचय बढ़ गया था।

जब भोटिये के तम्बू के पास से गुजरना हो तो भला यही होता है कि मालिक को आवाज लगा दे जिससे वह कुत्ते को रोक ले। एक मजेदार अनुभव मुझे तोपकू में हुआ था। प्रातः का समय था, सूर्य अभी निकला न होगा। मैं पानी की खोज में पहाड़ की ओर गया। पानी न मिलने के कारण वहाँ से नदी की ओर लौटा। काला पश्मीना लपेटे, हाथ में कमण्डलु थामे मैं चला आ रहा था। रास्ता दो तम्बुओं के बीच से था। जब मैं मध्य में पहुँचा तो देखता क्या हूँ? कि तीन भोटिये कुत्ते, काले काले भालू से, भूंकते हुए मेरे पर टूटे चले आ रहे हैं। मैं वहीं खड़ा हो गया और उन्हें डराने के लिए आवाज की और पत्थर उठाने को ज़मीन छुई। वे मुझ तक अभी पहुँच न पाये थे कि उनके मालिकों ने आवाज लगाई और वे लौट गये। कुत्ते से डर

कर भाग खड़े होना तो उसे काटने के लिए न्योतना ही होता है।

जब मैं और कपूरीलाल मालिया की ओर आ रहे थे तो रास्ते में एक स्थान पर एक भोटिये ने पड़ाव कर रखा था। उसके सामान से सड़क भी रुकी थी। वह भी वहीं था। मैं आगे था मैंने उसके कुत्ते को सड़क से नीचे बैठे देखा, परन्तु निर्भीकता से मैं आगे बढ़ता गया। उस कुत्ते के बराबर में पहुंचा तो वह मुझ पर लपका। और तो कुछ संभव न था; मेरे हाथ में बन्द छाता था। मैंने वह उसके मुँह में ठूँस दिया। यदि घबरा जाता तो उस दिन उस कुत्ते ने मेरी टाँग अवश्य घायल कर दी होती।

चलते चलते तो विषमातिविषम रास्ते भी कट जाते हैं, यह तो केवल सात ही मील था। जिस पहाड़ पर हम चल रहे थे, इसके पार जाना था। यही चढ़ाई का अन्त था आखिर वह धुरा आ ही गया। वहाँ पर भी कपड़े के रंगबिरंगे चिथड़े बँधे थे और ऊन भी। यहाँ से जिप्ती के लिए मैदान रास्ता था। काली नदी हमसे बहुत दूर हो गई थी, अब खेला से नीचे ही फिर इससे भेंट होने वाली थी। दोपहर से पूर्व ही हम जिप्ती पहुँच गये।

पहाड़ में हर गाँव में दुकान होनी आवश्यक नहीं; कुछ बिरले गाँवों में ही दुकाने होती हैं। यहाँ पर भी दुकान थी। काफी बड़ी। उसी में की ऊपरी मंजिल पर सामान आदि रक्खा गया।

जिप्ती ठण्डी जगह है। वहाँ धूप प्रिय लग रही थी। बिना कुछ खाये हमने उस ७ मील के रास्ते को तय किया था। केवल केसर-इलायची की चाय पी थी। भूख यदि व्याकुल कर रही हो तो विस्मय ही क्या? पहाड़ में गोला मिश्री ही ऐसा खाद्य

है जो झट से उपयोग में लाया जा सकता है, और प्रायः हर दुकान पर मिलता भी है। गुड़ यहाँ था नहीं और न ही मिश्री। गोला (नारियल) था और मूँगफली। उसी से ज़रा भूख को बहलाया।

जिप्ती का गाँव तो ज़रा दूरी पर है, वहाँ तो मैं गया नहीं, परन्तु इस दुकान की स्थिति बहुत सुन्दर स्थल पर थी। ऊंचाई ७००० से तो अधिक होगी। सामने नैपाल की पर्वत-माला दूरी पर दीखती ही थी। काली बहुत नीचे गहरे में थी अतः दृष्टि से परे थी। सभी ओर हरी हरी लम्बी घास थी। बीच में पेड़ खड़े थे। यहाँ पर बरसात काफी होती है। अतः सभी कुछ सजीव दीखता था। दुकानदार के पुरुषार्थ ने फूल काफी पैदा कर रखे थे। डालियों की शोभा अपूर्व थी।

थोड़ी ही देर में वर्षा आई। कभी जोर से और कभी मन्द मन्द। दिन का खाना हो गया। हम लोग यहाँ से आगे निकल जाना चाहते थे। कपूरीलाल, नरेन्द्र, छः मातायें और मैं। इतने दिन हम लोग इकट्ठे रह चुके थे। अलग अलग होना ज़रा साहस का कार्य प्रतीत होता था, इसमें सन्देह नहीं परन्तु आवश्यकता होने पर साहस भी किया ही जाता है। हमारा आगे बढ़ जाना सर्वथा हितकर प्रतीत होता था।

शमखोला और आगे

(३५)

सामान ठीक किया गया। माताओं का तो था ही अलग। नरेन्द्र तथा कपूरीलाल ने साथ रखने वाला सामान निकाला जो अत्यन्त आवश्यक था। मैंने भी दवाई का बक्स, टार्च तथा कागज पत्र की पोटली बनाई और पश्मीना कन्धे पर साधा। पारस्परिक हिसाब किताब उसी दिन तय हो गया था, कुली का प्रबन्ध भी हो गया। कुली कल प्रातः चल कर हमें अगले दिन खाने के समय खेला मिलेगा, ऐसा ठीक था।

नरेन्द्र औषधियाँ बेचने का व्यापार करते हैं। दवाई तो उन्होंने बुर्फु में भी बेची थी। तकलाकोट में उन्होंने अपना बड़ा चाकू बेच डाला था। गर्व्यांग में ट्रंक तथा कतिपय बिस्तर के गर्म कपड़े बेचे थे। अब यहाँ भी उनकी दुकान खुली और कई एक वस्तुएं बेचने पर उतारू हो गये। यह विचित्र प्रवृत्ति थी जो उनमें जागृत हो गई थी। कपूरीलाल पर भी संगति का प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपना फाल्तू जूता, बाटा का, बेच डाला और कुछ कमाया उस सौदे में से। चलते चलते हम लोगों को ५½ हो गये थे। मातायें हमसे आध घण्टा पहले निकल गई थीं।

विचार था उस रात शमखोला रुकने का। वह स्थान तीन ही मील होता है। रास्ता मैदान है। जब हम चले तो वर्षा शान्त

सी थी परन्तु बादलों का धुँआ सा छा रहा था, उसमें स्थित पेड़ तो स्वप्न जगत् की सृष्टि ही प्रतीत होते हैं। लगभग ½ मील से लौटकर मैं केमरा लेने आया, जो भूल गया था।

रास्ते में एक और गाँव पड़ता था। उसे पार कर जब हम शमखोला की सीमा में पहुँचे तो अँधेरा हो रहा था। बादल भी बूंदाबाँदी कर रहे थे। यहाँ पर हमें बतलाया गया था कि गाँव के प्रधान ने एक स्थान (छाना) यात्रियों के लिये बना रखा है। गाँव सड़क से ½ या पाव मील की दूरी पर ऊपर है, अतः सड़क से दीखता नहीं। वहीं पर हमें माताओं से मिलना था।

सड़क पर कोई व्यक्ति दिखाई न पड़ता था। आखिर सड़क के ऊपर एक घर दीखा, जिसका दरवाज़ा खुला था। वहाँ एक माँ ने बताया कि आगे सड़क पर एक अखरोट का पेड़ मिलेगा, वहाँ से रास्ता धार धार ऊपर को जाता होगा, वहाँ चले जाना।

एक नदी वहाँ रास्ते में पड़ती है। पुल है। उससे पार हो हम उस बढ़ती हुई अंध्यारी में चले जा रहे थे। मकान कोई दीखता न था और न कोई आदमी जो हमें रास्ते का सुनिश्चित बोध करा दे। सड़क पर तो पानी ऐसे बह रहा था मानों नहर टूटी हुई हो।

हम उस पेड़ पर पहुंच गये और ऊपर को जाता हुआ रास्ता भी दीखा। परन्तु बिना सुनिश्चित हुए कदम बढ़ाना उचित प्रतीत न हुआ। थोड़ी दूर पर पीछे खेतों में धुआँ उठता हुआ दिखाई दिया। अनुमान किया कि मकान होगा। सचमुच वहाँ मकान ही था। वहाँ रास्ता पूछा तो भीतर से ही एक आदमी कुछ गुनगुनाने लगा। आखिर एक लड़का बाहिर निकला, और

थोड़ी दूर आकर वह रास्ता समझा गया। हमने ठीक ही राह पाई थी।

चढ़ते चढ़ते हम एक मैदान में पहुंचे। वहाँ पर खेत ही खेत थे। पहले तो मकानों के कोई निशान ही न थे परन्तु आगे बढ़ने पर मकान दीखे। आश्वासन हो गया कि हम भटके नहीं हैं। रास्ता कीचड़ ही हो रहा था। वर्षा ऋतु में गाँव के रास्ते तथा खेतों के रास्ते ऐसे हो ही जाते हैं। पूछते पूछते हम लोग जा ही पहुँचे। माताओं ने आवाज दी। टार्च के सहारे ही तो हम चल रहे थे। उस गोबर तथा गोमूत्र से सने रास्ते में से पावों को सान कर हम जा पहुँचे, उस घर में जहाँ मातायें बोल रही थीं।

एक ग्रामीण ने कृपा करके अपने घर में आश्रय दिया था। उस प्रधान वाले छप्पर में तो हमें बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता, वह चूता भी था अत्यधिक।

अल्मोड़े से हम जितना आगे बढ़ते हैं, पर्वतों में, उतना ही शिक्षा तथा सभ्यता का अभाव मिलता है। वे प्रदेश जिनके लोग नीचे चले जाते हैं मैदानों में, उनमें और ही बात है, परन्तु जिन लोगों का पैदा होना, जीना तथा मरना वहीं पर होता है और शिक्षा भी नहीं हो पाती वे तो निपट मूढ़ हैं। हमारा भी वास्ता ऐसे ही, परन्तु चालाक लोगों से पड़ा था। वे हम लोगों से अधिकाधिक पैसा बटोरना चाहते थे।

बहुत मनाने पर वह घर वाला आलू लाया। दो रुपये का घी भी लिया गया, परन्तु बाद में पता चला कि उसने तो ठग ही लिया, भाव से आधे में दिया। बर्तन भी दिये परन्तु हर बात

में अनिच्छा दीखती थी। लकड़ी भी दी और कहने लगा—यह दो आने की होगी। सभी ने मिलकर उसे बनाया और मैंने तो स्पष्ट ही कह दिया कि लकड़ी का दाम तो हम देने के नहीं। खाया पीया और उस कमरे में भोटियों की भेड़ों की तरह पड़ गये। सोने में ११ बज चुके थे। थकावट भी थी, परन्तु नींद जैसी आनी चाहिये थी नहीं आई।

ये हमारी यात्रा के नूतन अनुभव थे। आखिर आगे निकलने के लिए कुछ मूल्य भी देना था। मैं तो इसे जानता ही था। और तैयार होकर चला था।

आगामी पड़ाव था सिरखा का गाँव। बीच में एक पहाड़ लाँघना था। लगभग ३ मील की लगातार चढ़ाई थी। प्रातः हम लोग जल्दी ही उठ गये। रास्ता दीखने लगा तो चल दिये। नीचे सड़क पर आकर स्नानादि करके हमने पुल पार किया और चढ़ाई चढ़ने लगे। वर्षा अब भी हो रही थी।

आज नरेन्द्र का बोझा उसे खलने लगा था। अटैची भारी थी और नरेन्द्र बोझा उठाने का अभ्यस्त भी न था। कठिनाई प्रतीत करने लगे। आखिर दूसरों को हाथ बंटाना पड़ा। उनकी शिथिलता स्पष्ट प्रतीत हो रही थी। चढ़ाई चढ़ी और फिर उतरे उतार भी लगभग उतना ही था। कुछ मैदान रास्ता आता है, जिसमें दो फरलांग की चढ़ाई होगी। धूप में बैठकर आराम करने लगे तो नरेन्द्र ने कहा 'मेरा घुटना खुल गया है।' उस पर मरहम पट्टी भी उन्होंने की। यह एक नई रुकावट हमारे रास्ते में थी। उस समय तो लोगों ने उनका खूब मजाक बनाया। नरेन्द्र का शरीर बलवान् होते हुए भी नाजुक है। देखने में वे सुडौल थे

ही, परन्तु इस प्रकार की दौड़ धूप का कभी अवसर न मिला था आराम से रहने के ही अभ्यस्त थे।

हम लोग ११ बजे सिरखा पहुँच गये। जाते ही खाने पीने के सामान का आयोजन हुआ, परन्तु गाँव में सामान जुटाने में देरी लगना स्वाभाविक है। रसोई ने चार घण्टे लिए।

सिरखा का गाँव बहुत बड़ा है। खेती भी बहुत सुन्दर प्रतीत होती थी। वहाँ के आलू तो अपनी मिठास में अतुलनीय ही थे। हम लोग स्कूल में टिके थे, आजकल वहाँ हड़ताल थी।

नरेन्द्र की दुकान खुली। दवाइयाँ खूब बिकीं। नरेन्द्र तो अपना कोट पेंट भी बेंच रहे थे, परन्तु एक रुपये पर सौदा अटक गया।

हम लोग खा पीकर चलने को तैयार ही थे कि गोविन्द-वल्लभ, स्वामी जी आदि भी आ पहुँचे। खूब मजे की रही। वे लोग खाकर चले थे। हमारा विचार था हम आज आश्रम देख कर, सूसा अथवा उससे भी आगे निकल जायेंगे, परन्तु आज यह असम्भव था। खाने पीने में इतनी देरी लग गई थी; जिसकी हमने गिन्ती ही उस समय न की थी। फिर से सभी इकट्ठे हो गये।

नारायण आश्रम

(३६)

खेला वाले नारायण स्वामी जी से ५ वर्ष पूर्व अल्मोड़े में भेंट हुई थी। उनकी सौम्यता तथा माधुर्य ने मुझ पर बहुत सुन्दर प्रभाव डाला था। उनसे आन्तरिक साधना के विषय में भी कुछ चर्चा हुई थी। उनके प्रति सहज प्रीति का भाव मेरे हृदय में था ही। मैं समझ चुका था कि वे एक उच्चकोटि के साधक हैं और उदार हृदय हैं। उनका आश्रम सिरखा से ३ मील की दूरी पर है। उनसे मिलते हुए जाने की इच्छा थी। थोड़ा चक्कर तो पड़ता ही था, परन्तु आश्रम छोड़ कर जाये भी न बनता था।

मातायें थक रही थीं। उनकी अवस्था को देखो तो अधिक पुरुषार्थ कर रही थीं। आज की प्रातः चढ़ाई, प्रतीत होता था कि उन्हें खली है। सिरखा के साथ लगे पहाड़ को पार कर हम लोग आगे चल दिये। रास्ता खराब है। एक छोटी सी बटिया चट्टानों पर से कूदती फांदती चली गई है। इधर आबादी बिल्कुल ही नहीं, केवल दूर नंगी चोटियाँ दिखाई पड़ती हैं।

लगभग ३ मील की दूरी से आश्रम दिखाई दिया। एक मैदान स्थल पर वह भवन विस्तार, उस पर्वत माला की पृष्ठभूमिका में, सन्ध्यावेला में कितना प्यारा लगता था। मुझे अद्वैताश्रम मायावती का स्मरण हो आया। मैं लगभग ४ वर्ष पूर्व अपने कुछ मित्रों के साथ वहां गया था। वह तो घोर जङ्गल से ढँकी ऊँची पहाड़ियों

बीच एक टीले पर बसा है। पुष्पों की उन दिनों बहार थी। वह भी दिव्यस्थल प्रतीत होता था, और यह भी। नारायण आश्रम बहुत विस्तृत है और उसी प्रकार से वह पर्वत माला भी। लगभग सभी और काफी दूरी पर कुछ मील तो होंगी ही—एक पर्वत माला का सिलसिला है। जिसकी नङ्गी चोटियाँ बताती हैं कि वे जाड़ों में हिमाच्छादित रहती हैं, अन्य पर्वतों पर प्रायः घास ही है, वृक्ष बहुत कम। अतः सभी खुला खुला सा प्रतीत होता है। विस्तार का भान होता है।

वहां पर पहुँच कर उस स्थल के विस्तार का पता चलता है। मध्य भवन के अतिरिक्त और भी अनेक मकान थे। एक बड़ा मकान तो अभी बन ही रहा था। आश्रम को बनते वर्षों हो गये हैं, और अभी काम पूरा नहीं हुआ।

आश्रम की प्रत्येक वस्तु अच्छी से अच्छी है और उससे बनवाने वाले की रुचि, कला प्रियता और उदारता टपकती है। उस दूर प्रदेश में इस प्रकार का निर्माण वास्तव में विस्मय कारक है।

स्वामी जी से भेंट हुई बहुत दिनों के बाद मिले थे। मुझमें भी परिवर्त्तन था और उनमें भी। अभी हाल ही में वहां श्री कृष्ण विग्रह की स्थापना केन्द्रीय भवन के ऊपरी भाग में हुई है। वहां संकीर्त्तन के लिए सभी लोग ५½ बजे के लगभग जुट गये। उस स्थल पर कला-पूर्ण कीर्त्तन और भी अच्छा लग रहा था। वहां से भागने का तो प्रश्न ही न था। रात वहीं रहना था।

उस सांझ को हम आश्रम के ही अतिथि थे। सभी प्रकार की सुविधा हमको दी गई। ओढ़ने बिछौने तक का वहां सुचारु

प्रबन्ध था। आश्रम के स्वामी के अनुकूल ही तो आश्रम की व्यवस्था थी।

आश्रम की गय्यां बड़ी भली मालूम होती थीं। उन घास से लदे पर्वतों पर प्रतीत होता था कि वे खूब भर पेट चरती हैं और प्रेम तथा यत्न से रखी जाती हैं।

अगले दिन प्रातः हम लोग ७ बजे के बाद ही आश्रम से चल पाये। कई कारणों से देर हो गई। सोचा था कि आश्रम और उसके स्वामी की फोटों लेंगे, परन्तु बादलों का धुंआ था। धूप ही न थी।

———

खेला से भी आगे

(३७)

गोविन्दवल्लभ तथा दुर्गादत्त को पीछे छोड़ हम लोग आगे बढ़े। हमें यह सूचना तो मिल ही चुकी थी कि हमारे कुली के लिए बोझा भारी हो रहा है अतः संभवतः वह साँझ तक खेला पहुँच पायेगा, परन्तु इतनी जल्दी हिम्मत हारने वाला मैं न था।

सूसा अगला गाँव था। यहाँ पर हमें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क मिली। इससे तीन मील की दूरी पर एक और गाँव है। वहीं पर खाने का निश्चय था। मैं आगे जा रहा था। वहाँ पहुँचते-पहुंचते १० बज चुके थे भूख व्याकुल कर रही थी सोचा था कि आगे जाकर खाने का सामान जुटा रक्खूंगा जिससे जल्दी ही खाना हो जाये और हम लोग आगे बढ़ सकें। वहाँ दुकान नहीं थी। एक ग्रामीण ने मुझे रास्ता दिखा दिया, इशारा करके कि उस घर में चावल मिल जायेंगे।

एक माता से मैंने पूछा—'छाछ हैं माँ!' उसने कहा 'छाछ तो नहीं हैं, आलू हैं, खाते हो? उन शब्दों में महान् मातृत्व की झलक स्पष्ट थी। भूख मुझे थी हीं। मैं बच्चे की तरह मचल कर वहीं बैठ गया, और बोला—'भूख लगी है मय्या। खाऊँगा' वह एक प्लेट भर आलू ले आई। उबले हुए थे और अभी खूब

गर्म थे। मैं अभी वे समाप्त भी न कर पाया था कि उसने और दे दिये। नमक भी एक पत्ते पर लाकर रख दिया।

उसके पास आटा था। वर्तन वह देने को राजी थी। आलू भी थे ही और स्थान भी, मैंने यही निश्चय किया कि यहीं खाना होगा। खेला अभी ५ मील था। भूखे चलना असम्भव था, माताओं के लिए, मैं वहाँ बैठा बाकी लोगों की बाट देखने लगा।

उनके आते ही रसोई का काम होने लगा। खा पी कर मैं और कपूरी लाल १२½ बजे ही खेला के लिए रवाना हो गये। उस दिन का रास्ता भी भूलने का नहीं। कड़ाके की धूप थी। रास्ते में पत्थर थे, प्रायः सारी उतराई में और धूप से वे तपते थे। तिब्बत के जाड़े के बाद यह गर्मी विशेषकर खलती थी। पसीने की धारायें वह रहीं थीं।

यहीं कहीं रास्ते में हमें वह कुली मिला। बेचारा चला ही आ रहा था, परन्तु बोझा तो भारी था ही, इसमें सन्देह नहीं। वह आशा करके कि ५ बजे तक यह वहाँ खेला पहुँच जायेगा, तो भी हम आगे चल देगें, हम आगे बढ़े।

रास्ता नदी में उतरता है। यह नदी काली नहीं, उसकी एक सहायिका नदी है। वहां से खेला के लिए चढ़ना होता है। थोड़ी सी चढ़ाई तो खड़ी है। उस धूप में चढ़ाई ने व्याकुल कर दिया कपूरीलाल तो पानी के लिए विह्वल से हो उठे। परन्तू जल्दी ही धूप चली गई। बादल गये और ठण्डा हो गया। हम तो पसीने में नहाये से ३½ बजे खेला पहुँच गये। पहुंचते पहुंचते मुझे तो भूख लग आई थी। मैं दिन में पेट भर खा ही न पाया था, उन आलुओं के कारण। कुली के लिए दौड़ धूप की, परन्तु व्यर्थ।

डाकघर के भी दर्शन किये। अखबार से पता चला कि मास्टरों की और डाक की दोनों की ही हड़तालें समाप्त हो गई हैं।

मातायें अभी पीछे थीं। नरेन्द्र आ पहुँचे, लगभग ५ बजे; परन्तु कुली न दिखाई पड़ा। फिर मातायें आईं और लगभग ५½ बजे कुली भी आया। हम विचित्र परिस्थिति में थे। कुली के बिना हमारा आगे बढ़ना कठिन था, और कुली का प्रबन्ध नहीं हो रहा था। यहाँ रात रह जाने का अर्थ था कि हमारा आगामी सारा प्रोग्राम गड़बड़ा जाय। उसके लिए मैं तैयार न था। एक रास्ता सूझा, नरेन्द्र ढीले हो ही रहे थे। सामान उनके साथ छोड़ा जाय और वे गोविन्दवल्लभ के साथ मजे मजे चले आयें। इसमें सभी बातों का हल था। मैंने एक पत्र उनके लिए लिख कर उनके हाथ में दिया। वे इसके लिए तैय्यार ही थे। कपूरीलाल ने अपनी खाल बाल छोड़ दी। माताओं ने रवाना किया। वे थक तो रही थीं पर बिना चले बात भी न बनती थी। बिस्तर दुकानदार को सौंप मैं और कपूरीलाल भी चल दिये।

तीन मील की दूरी पर दुकानें थीं। वहीं हमें रात व्यतीत करनी थी, संध्या हमें वहीं खेला में हो गई थी। अन्धेरा रास्ते में हुआ, परन्तु चलने में कठिनाई न होती थी। ठण्डा हो रहा था। हम लोग काली के किनारे पर आ रहे थे। वह सांध्य-भ्रमण बहुत ही आनन्दप्रद रहा।

जहाँ दुकान थी, उस स्थान को बेल कहते हैं। रात को सूक्ष्म सा ही खाना हुआ। माताओं ने अपने लिए खाने का प्रबन्ध किया, चावल ले लिये। हमारे प्रातराश के लिए रोटियाँ बनाई गईं।

अगले दिन मैं प्रातः हम लोग ६ बजे धारचूला पहुँच गये। सात ही मील का रास्ता था, और मैदान ही। काली के किनारे किनारे जंगल में से ठण्डे ठण्डे मैं चलना था। बिल्कुल थकावट नहीं हुई।

धारचूना नदी की घाटी में बसा है। दूर से सुन्दर दीखता है। कदली-कुञ्ज और हरित लहराते हुए धान के खेत, उसकी आभा को और भी बढ़ाते हैं। वहाँ पर आम के भी बगीचे हैं।

खा पीकर कुछ आराम हुआ और केलों की फीस्ट रही। आम भी चखे। परन्तु इतने अच्छे न थे। एक माता यहाँ पर बुखार से पकड़ी गई। लगभग ३ बजे हमने रास्ता लिया, जब उसका बुखार कम हो चुका था।

———

कालिका से अस्कोट

(३८)

हम लोग जितनी जल्दी हो सके, जाना चाहते थे; परन्तु सभी बातें तो अपने हाथ में रहती नहीं। सभी को साथ लेकर चलना था। साथ में मातायें भी थीं जो इतने दिन चलने के कारण श्रान्त थीं।

सोचा था कि कालिका से २ मील आगे एक ग्राम में रात को रुकेंगे। परन्तु यहाँ कुछ और ही होने वाला था। कालिका धारचूले से ५ ही मील दूर है। हम लोग जब ३ बजे चले तब तीव्र धूप थी, पसीना आता था और चलना अच्छा न लगता था।

कालिका तक रास्ता बिल्कुल मैदान है और पत्थर भी रास्ते में कम हैं। मैंने तो जूता गर्व्याङ्ग से आगे चलते ही छोड़ दिया था। वर्षा ऋतु में पहाड़ में जूता पहनना मुझे भार-सा प्रतीत होता है। इसी लिये रास्तों के कंकर पत्थर भी सोच में आते थे।

हम लोग धीरे धीरे चलते चले गये। मातायें हमसे लगभग १ मील पीछे होंगी, कपूरी लाल तथा मैं कालिका से १ मील पर रहे होंगे जब सामने के पहाड़ पर जोर की वर्षा होती हुई प्रतीत हुई। देश में वर्षा का दूर से दृश्य इतना स्पष्ट और सुन्दर प्रतीत नहीं होता। पर्वतों में तो स्पष्ट पता चल जाता है कि वहाँ

सामने पवत की ढाल पर वर्षा है और वह बढ़ती चली आ रही है। ऐसा ही हो रहा था। बादल इधर भी घिर रहे थे और वर्षा आती हुई प्रतीत हो रही थी। थोड़ी ही देर में बूँदें आईं। हम लोगों ने अपने अपने छाते—बरसाती लेकर कदम बढ़ाये।

वर्षा मूसलाधार आई। छाता भी बहुत रक्षा नहीं कर पाया। बरसाती भी ऊर्ध्व-भाग की रक्षा करने में समर्थ थी। सोचा था कि कालिका में जाकर रुकेंगे। परन्तु कालिका गाँव तो अभी ½ मील से अधिक था। इस दिन की वर्षा तो क्वेंटो वाली वर्षा का स्मरण करा रही थी। देखते देखते रास्ते पर पानी की धारायें बहने लगीं और रास्ता नदी-सा हो गया।

कालिका का मन्दिर छोटा-सा है और वह है रास्ते के पास ही विशाल पेड़ों की छाया में। बकरे काटने का स्तम्भ देखकर निश्चय हो गया कि वही कालिका गाँव की कालिका है। हमें तो उससे कुछ लेना देना न था, आगे बढ़ते गये और आखिर गाँव में भी पहुंच। एक दुकान में आश्रय लिया। छोटी सी दुकान—थी और वह भी सूनी। दुकानदार ने कृपा करके हमें सिर छिपाने की अनुमति दे दी।

कालिका गाँव एक पर्वतीय नदी के आधा तो इस पार बसा है और आधा उस पार। सड़क पर का डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का पुल तो बह चुका था। एक लट्ठा डाला हुआ था जो एक ओर से बहुत ऊँचा था और दूसरा ओर से नीचा। नदी में बाढ़ आने पर वह लट्ठा भी अधिकांश डूब जाता है। आर पार जाना नहीं बन पड़ता। वर्षा ऋतु में कभी कभी यात्रियों को पड़े रह जाना पड़ता है।

नदी में बाढ़ आने की सम्भावना थी, परन्तु अभी लगभग १ घण्टे में। हमें इसी बीच उस पार हो जाना चाहिये था। इस पार तो वैसे भी रुकने के लिए स्थान न था। दुकान छोटी थी। पास में एक भोटिये का खाली मकान था परन्तु उसका चौकीदार स्थान देने के लिये तैय्यार न था। आँखें उत्सुकता से रास्ते पर लगी हुई थीं कि कब मातायें आयें और कब हम उस पार हो जायें। उनको पहुँचते पहुँचते पाव घण्टा लगा, परन्तु फिर भी दीदी और खण्टी (जिनको बुखार हुआ था) न आ पाईं।

पार जाने का निश्चय कर लिया था। सहायता की आवश्यकता प्रतीत होती थी। मातायें अपने बोझों सहित स्वयं लट्ठ से उस पार न जा सकती थीं। रामगंगा के झूले की याद ताजी हो रही थी। एक व्यक्ति सहायता के लिये भी मिल ही गया। ज़रा वर्षा कम होते ही बाकी सबको पार करवा दिया। मैं दोनों माताओं को जो पीछे थीं, ढूँढने लौटा। लगभग १ फर्लांग जाने पर वे आती दीखीं। रुग्णा ने एक छप्पर में आश्रय लेना उचित समझा था। इसीलिए वह उतनी पीछे रह गई थीं। हम सभी पार हो गये। नदी बढ़ती चली आ रही थी, इसमें सन्देह नहीं।

लगभग ६ बजे थे। मेरा विचार तो आगे चलने का था ही, परन्तु मातायें भीगी हुई थीं। एक तो रुग्णा ही थी। उनकी चलने में अरुचि स्पष्ट थी। रहने का निश्चय हुआ।

हमारे उस पार होने से पुर्व ही उन्होंने आश्रय ढूँढ़ निकाला था परन्तु काफी कोशिश करने पर। गाँव में यात्री की विचित्र परिस्थिति होती है। रुकने को कोई दुकान या होटल तो कुछ होता नहीं, किसी के घर में ही सिर छिपाया जा सकता है, परन्तु बिरले-ही गाँव वाले यात्रियों की इस कठिनाई को अनुभव कर

पाते हैं। जिस पर स्वयं न बीती हो वह कल्पना भी नहीं कर पाता है। अल्मोड़े से जितना उत्तर-पूर्व की ओर जायें, मेरी समझ में गाँव वालों की सहानुभूति प्राप्त करना उतना ही कठिन प्रतीत होता है। उतनी ही अधिक अनुदारता तथा निष्ठुरता मिलती है। जहाँ शिक्षा का अभाव है, वहाँ तो यह बात नितान्त सत्य है। कालिका ऐसा ही गाँव था जिसके आस-पास में कोई स्कूल भी न था। लोग अपढ़, निपट गँवार थे। एक ने आग्रह करने पर आखिर आश्रय दे ही दिया।

रात को माताओं का तो खाना पीना होता ही न था। कपूरी-लाल तथा मैं तो खाते थे। वह भाई एक चिचिन भी ले आया (आटा तो पास में था ही) उसी के चूल्हे पर दीदी ने रोटियाँ सेंक दीं। बेचारे की पत्नी उसे, हमें आश्रय देने के कारण भला बुरा कह रही थी। वह समझती थी कि हम डाकू हैं, परन्तु उस घर में था ही क्या ? जिसे हम ले जाते। सूना था वह घर। पति-पत्नी और एक रुग्ण शिशु, यही थे उस घर में। आटा, चावल भी तो उनके पास न था। आधा भुट्टा खाकर कपूरीलाल को भुट्टे की चाट लगी, परन्तु वहाँ तो कोई भी वस्तु पैसे लेकर भी, कोई गाँव वाला देने को तैय्यार न था। दूध के लिये एक माता लुटिया लेकर गाँव भर में घूम आई परन्तु छाछ भी उपलब्ध न हुई।

अगले दिन ५ बजे हम लोग रास्ते लगे। पहिली सांझ के भीगने ने अंग शिथिल कर रखे थे, माताओं के। अतः उनकी गति बहुत मन्द थी। तिस पर एक रुग्ण भी थी। उनको औषधि दी जा रही थी। उसने कल कुछ भी न खाया था। बिना कुछ खाये पीये वह चलेगी कैसे ? उसके लिये रास्ते में एक भैंस वाले से दूध ढूंढा गया। कपूरीलाल तथा मैं दूध लेने को रुक गये।

बहुत मोन मेख के बाद भैंस दुही गई और फिर बहुत आराम से दूध गर्म किया गया। एक रुपये सेर का भाव था। लाचारी थी, दो रुपया सेर होता तो भी तो लेते ही। पाव भर दूध लाकर उसे दिया। इसमें हमारा लगभग १ घण्टा लग गया।

मैदान रास्ता था। चलते चलते बलवाकोट आये दुकानें वीरान सी थीं। खाने को कुछ न था। जौलजोबी में जाकर खाना खाने की सोच रखी थी। जौलजीबी वहाँ से थोड़ा ही होता है—लगभग ६ मील। ६ बज चुके थे जब हम बलवाकोट से निकले। धूप तेज हो रही थी। एक मील आते आते ही धूप में चलना, खलने लगा था। तिस पर यहाँ चढ़ाई लेनी होती है। रास्ता जंगल में से होकर जाता है और ऊँचे के कारण ठण्डा भी होता है। अतः चढ़ाई इतनी खली नहीं। फिर उतरे और नदी के किनारे किनारे ज़रा ऊँचाई पर पहुँच गये। हम लोग गर्म प्रदेश में थे। जौल जीवी तो ३००० फीट से कुछ ही अधिक होगी।

यात्रा व्यक्ति को धैर्य तथा कष्टसहिष्णुता का पाठ बलात् पढ़ा देती है। धूप बढ रही थी, परन्तु जाना आवश्यक था, आश्रय भी अन्यत्र था नहीं चलते चलते आखिर जौल जीवी भी दीखा। कपूरीलाल, दीदी तथा मैं आगे थे। दीदी को उस दिन का रास्ता और भी खला। हमने रास्ते में आराम नहीं किया और दीदी ने भी हमारा साथ छोड़ना पसन्द न किया। बाकी लोग धीरे धीरे पीछे आते रहे।

हम लोग जौलजीवी के लिये सड़क से उतर आये। समझते थे—दुकान में डेरा करेंगे, खायेंगे और आराम करके शाम तक अस्कोट पहुँच जायेंगे। परन्तु यहाँ तो और ही लीला थी।

जौलजीवी में किसी दुकानदार के पास खाद्य सामग्री थी ही नहीं, यदि कुछ थी भी तो देने को तय्यार न था। जो दुकानदार आटा चावल रखता था, वह दुकान को ताला लगा, ऊपरमकान में था। उसकी बहुत अनुनय विनय की गई, परन्तु वह टस से मस न हुआ। शायद उसके पास रहा ही न हो। उसके पास भुट्टे आ रहे थे। ढेर लगा था परन्तु थे पक्के। दो भुंट्टे उसने मेरी भेंट किये। ६ भुट्टे साथ वाला दुकानदार उसी से ले आया। हम लोग इसी उधेड़बुन में थे कि इनका काम कैसे किया जाय। दीदी दिखाई न पड़ती थी। नारियल प्राप्य था सो तो क्षुधा को बहला भर ही सकता था। सो किया।

दीदी हमें खोज रही थी और हम दीदी को। लगभग ½ घण्टे बाद दीदी भी आ गईं और बाकी सब भी। दीदी की झोली में १०-१२ भुट्टे थे। हमने उन्हें बता दिया कि खाने को और कुछ न मिलेगा, ये ही भूनिये और खाइये। एक चूल्हे पर अड्डा जमाया गया। साथ ही चाय के होटल वाला था। उसको भी थोड़ा परेशान किया। भुट्टे भुनने लगे और चबाये जाने लगे। उसी आटे चावल वाले दुकानदार ने सुझाया कि यहाँ हरे भुट्टे भी मिल जायेंगे (मूल्य से), और मुझे एक व्यक्ति के पास जाने को कहा। हमने एक रुपये के लिये और चुस्ती से भूनने और चबाने का प्रोग्राम चलने लगा। भुटटे अच्छे थे, पेट भरने योग्य भूख में जल्दी जल्दी चलते चले गये और साथ साथ गोरी गंगा का शीतल जल। उस रुग्णा को भी भुट्टे खिलाये। उसको ज्वर फिर नहीं आया। सभी ने ६, ६ बड़े बड़े भुट्टे तो खाये ही होंगे। भीतर कुछ शान्ति हुई, थोड़ा आराम किया।

जौल जीवी अलमोड़े जिले में प्रसिद्ध स्थान है जैसे बागेश्वर में उत्तरायणी को मंडी और मेला लगता है, इसी प्रकार यहाँ भी मंडी लगती, परन्तु उत्तरायणी से पूर्व ही। चौंदास तथा व्यांस वाले व्यापारी तिब्बती माल लाते है। यहाँ पर मुसलमान भी काफी संख्या में हैं। धारचूले में भी उनके कुछ घर है। जौलजीवी में काली तथा गोरी का संगम है।

तीन बजे से पूर्व ही हम लोग अस्कोट के लिए रवाना हो गये। लगभग २ मील मैदान जाकर गोरी को पार करना होता है, फिर चढ़ाई लगती है। लगभग ३ मील होगी। हम सांझ को ६ बजे अस्कोट पहुँच गये थे। मातायें हमसे घण्टा भर बाद में आईं।

अस्कोट का नाम बहुत सुन रखा था। यहाँ के केले और शहद प्रसिद्ध हैं। अस्कोट की बस्ती बहुत सुन्दर दीखती है। संध्या समय जब हम अस्कोट पहुँचे, सूर्य नारायण तो सामने वाले पहाड़ के पीछे जा चुके थे। पर्वत की धार पर अगल बगल धानों के लहलहाते खेत और केलों के पेड़ सुन्दर दीखते थे। बाजार भी देखने में अच्छा है, परन्तु आजकल दुकानें सूनी ही लगती हैं। आटा चावल मिल जाय तो बहुत मानना चाहिए।

अस्कोट में यात्रियों के लिए धर्मशाला है। उसी में दुकान है। परन्तु उसके पास आटा न था, बाजार में आटा केवल नीचे वाली दुकान में था। आटा ले लिया गया, इस भय से कि कहीं समाप्त न हो जाय और दाल लेकर साफ करनी आरम्भ कर दी माताओं के आने तक हमने इसका आयोजन कर रखा था।

उस रात को हमने अंधेरे में बिना देखे रोटियाँ खायीं। यदि

देख पाते तो भूखे भले ही रहते, गले से नीचे उन्हें उतारना कठिन हो जाता। रोटियों का काला काला रंग और बदबू घोड़ों की लीद-सी ! भला कैसे खा पाते ? दूसरे दिन प्रातराश के समय पता चला। रुपये सेर का भाव था और सेर भी १२ छटांक का लगता था। मियां जी रोज़ों में भी इस कमाई पर तुले थे। उसकी इस महती कृपा के बिना भी तो रात कटिनी कठिन थी।

डीडीहाट

(३६)

कृष्ण पक्ष था। तिथि तो कहनी कठिन है, परन्तु रात को चाँदनी छिटक रही थी। आधी रात को आँख खुल गई तो वह चंद्रिका का वैभव देखने को मिला। उस धर्मशाला के बरांडे में मेला सा हो रहा था। बहुत से तो कैलाश से ही आने वाले थे। ४॥ बजे ही हमने अपनी पोटलियाँ बटोरीं और धीरे धीरे लोगों को लांघ कर बरांडे से नीचे आये। सड़क पकड़ी और चल दिये। सड़क के बारे में रात ही जान रक्खा था।

यहाँ से डीडीहाठ केवल ७ मील होता है। रास्ता पहाड़ की धार पर से होकर जाता है और काफी ऊँचाई पर से है। अस्कोट भी ऊँचा है। ५ बजते बजते एक धुआं सा उठने लगा था। उस सूर्योदय के से पूर्व समय, बादलों की धुंधली छाया में, उन घास के हरे भरे मैदानों में, हम पहाड़ पर चले जा रहे थे। वह दृश्य अति ही प्रिय था। कुछ वर्ष पूर्व मैने इसी तरह प्रातः ही प्रातः धौलदेवी का दृश्य देखा था। वहां देवदार का जंगल है, मन्दिर के सामने घास का मैदान है। मन्द सा प्रकाश था, बादल का

धुंआ अलक्षित ही बरस रहा था। मैं वहाँ से निकला तो मानों उस अलौकिक सौन्दर्य को देखकर तन में भी बिजली सी दौड़ गई। वैसे ही उस रास्ते पर लग रहा था। मन मयूर की तरह नाचता था।

पानी की उस दिन काफी प्रतीक्षा करनी पड़ी। मिला तो खूब शीतल और सुस्वादु ही। मैं तो अस्कोट के नाले पर अन्धेरे में ही नहा आया था। बाकियों ने रास्ते में नहाया और हमने उन रोटियों को खाने का प्रयत्न किया। मैंने तो दीदी के डर से जितना भी गले से नीचे उतार पाया, उतारा। अपने ही मन की सी करता तो उन्हें दूर जंगल में फेंकता, जहाँ जानवर की भी नजर न पड़ती। उनकी सोचकर मितली सी होने लगती है, आज भी।

वर्षा भी आई परन्तु मन्द मन्द। ऐसी वर्षा चलने में दुःख दायी नहीं होती। वह पसीना नहीं आने देती, शरीर भी गर्म नहीं हो पाता। व्यक्ति थकता भी नहीं और भीगता भी तो नहीं। उन घास के मैदानों में से होते हुए, रास्ता बाद में जंगल में से गुजरता है। हम लोग डीडीहाट की देख में आ पहुंचे। बाजार अभी आधा मील ऊपर था। वह रास्ता भी कट गया। सात मील काटते पता न चला था।

बुर्फु के मोहनसिंह जांग पांगी, रिटायर्ड पटवारी आजकल डीडीहाट में ही थे। दीदी की भी कुछ मित्र भोटिया स्त्रियां यहां रहती थीं। मोहनसिंह जी मिले। उन्होंने आतिथ्य किया। हमारे साथ दिन का सम्बल बांध दिया। सान्देओं में हमारा खाने का प्रोग्राम था। उनके पुत्र ने जो पटवारी था, दुकानदार के लिए

दे दिया। इतने दिनों में मोहनसिंह जी का मिलना आदि यात्रा के और अन्त को एक कर रहा था। दीदी के परिचय वाले स्थान पर कुछ औषधि वितरण हुआ। माताओं को आगे भेजकर मैं दवाई देकर उनसे सान्देओ में जा मिला। वहीं पर भोजन हुआ। लगभग १½ बजे हम लोग खा पी चुके थे।

———

मसमौली

(४०)

अब हमें सीधा रास्ता छोड़ कर रेतौली मुआनी जाना आवश्यक था। डीडीहाट से आगे का पड़ाव थल १२ मील होता है। वहां से रेतौली ८ मील है। यदि हम ठीक रास्ता पकड़ लेते तो हम १२ मील में भूले पर पहुँच सकते थे वहाँ से रेतौली २ मील से भी कम होता है।

रेतौली में दीदी के परिचय की रानी साहिबा थीं। दीदी ने बचन दे रखा था कि वे मुझे वहां ले जायेगी। इससे अच्छा अवसर फिर मिलना कठिन था, इसीलिए अभी उधर से होकर जाने की सोची थी।

सानदेव से नीचे लगभग ३ मील में जंगलात की सड़क मिलती थी। वह सड़क हमें पकड़नी चाहिए थी। हम लोग सानदेव से थोड़ा ही आगे बढ़े थे कि वर्षा ने हमें घेर लिया। धारावाही बौछाड़ थी। जल स्थल सभी सम हो गया। साथ में ज़ोरदार वायु थी। कपूरीलाल तथा मैं आगे निकल आये। रास्ता बाँयें को मिलना चाहिये था—वह जंगलात वाला, परन्तु हम लोग चलते आये। रास्ते का निशान कहीं दीख न पड़ा। वास्तव में रास्ता हम ऊपर छोड़ आये थे। एक मील नीचे आने पर भान हुआ कि गड़बड़ में पड़ गये हैं, और नीचे आने पर एक पथिक ने बताया

कि सचमुच रास्ता ऊपर रह गया है। हम लोग लौटे। आधा मील भी न लौटे होंगे कि मातायें आती हुई मिल गईं। उनको उस सड़क का अंदाज आ गया था घास के मैदान में सड़क फटती थी और वहाँ उसके चिन्ह स्पष्ट न थे। इसी लिए हम धोखे में पड़ गये।

खूब हंसी उड़ाई गई हमारी और खिलखिला कर वे सभी हंसने लगीं। इसमें सन्देह नहीं कि वास्तव में हम बेवकूफ बन गये थे। लौटने को वे तैयार न थीं और मुझे भी धुन थी कि थल का चक्कर काटे बिना सीधे ही जाया जाये। मैंने सुन रखा था कि थल से ऊपर पांच मील से एक गांव गांव रास्ता जाता है और उससे भी उतना ही होता है। मैं इस रास्ते की खोज में था।

एक स्थान पर बालक गय्यां चरा रहे थे। उससे पूछने पर कुछ पता न चला। वर्षा तो रुक गई थी, परन्तु सड़क पर कोई था नहीं। १०-१५ मिनट रुकने के बाद आगे बढ़ने का निश्चय हुआ। हम ठीक स्थान पर रुके थे। ३ फर्लांग नीचे कुछ लोग मिले उन्होंने रास्ता बताया। नीचे से भी हम जा सकते थे। रास्ता हमने पकड़ लिया। उनके कहने के अनुसार मुआनी वहां से ५ मील था। अभी ४½ का समय था। हम लोग ७ बजे तक पहुँच सकते थे।

खेतों में भटकते हुए, कभी जंगल में और कभी मकानों में जाते हुए हम लोग आगे बढ़ते चले गये। हमारा लक्ष्य हम जानते थे। दिशाभ्रम का प्रश्न न था। हम चलते चले गये। गाँव वालों से हमारे दो मील चलने पर जब हमने पूछा तो मुआनी ७ ही मील बताया। विस्मय सा हुआ, परन्तु रुकना तो व्यर्थ था। गाँव रास्ते में पड़ते थे। किसी भी गाँव में रात रुक सकते थे।

वह यात्रा कपूरीलाल को खल रही थी। शरीर को तो कष्ट था सो था ही परन्तु मन झुंझला रहा था। झाड़ झंकाड़ कपड़े पकड़ने का यत्न करते थे और पाँव ढीलने का भी। उनका मन तो इस वेढब चलने से घबरा रहा था। जौलजीवी से उधर ही उनके पाँवों में छाले पड़े थे, दो स्थानों पर और अब एक पाँव बिना जूते के था। देश के रहने वाले के लिए यह दुःखदायी है, मैं जानता था, परन्तु उस समय उनके साथ सहानुभूति करना तो मामला ही बिगाड़ना था।

मुझे उस दिन का चलना बहुत रुचा। स्वयं रास्ता खोजने में दिशा बोध कर चलने में, कितना आनन्द आता है। इसमें अन्वेशण है और साहस भी।

यह तो सुनिश्चित था कि आज हम रेतोली न पहुँच पायेंगे। मुआनी तो झूले के पुल से इधर का गाँव है और वहाँ से दो मील हमें आगे जाना था। जंगल की सीमा पर गाँव था। उसी को लक्ष्य कर हम चल दिये। और अंधेरा होने से पहिले वहाँ पहुँच गये। उस गाँव का नाम मसमौली था और मुआनी वहाँ से २ मील से भी कम था। हमारा इधर आना व्यर्थ न हुआ। कल की हम केवल ४ मील चल कर, अपने लक्ष्य पर पहुँच सकते थे।

एक ब्राह्मण गृहस्थ ने हमें आश्रय दिया। उनकी सौजन्यता सर्वथा प्रशंसनीय है। अतिथि सत्कार की मर्यादा ब्राह्मणों में अभी भी सजीव है और शिक्षित ब्राह्मणों में तो विशेषकर। उस व्यवहार में प्रीति भी थी और सौहार्द्य भी। उन लोगों की समस्याओं का हल करने की हमने भी चेष्टा की।

प्रातः हमें एक पहाड़ी नदी पार करनी थी। उस नदी में बाढ़ आने पर हम लोग पार न जा सकते थे और हमारा किया

कराया सभी पुरुषार्थ व्यर्थ हो सकता था। प्रातः जैसे ही हम तैयार होकर चलने को थे, ज़ोर की वर्षा आई परन्तु १५ मिनट में शान्त सी हो गई। उस बूंदाबांदी में हम लोग चल दिये। जिनके यहाँ हम रहे थे। उनका पुत्र हमें छोड़ने को हमारे साथ आया।

उतरते उतरते एक मील में हम उस नदी के किनारे पहुँचे। पानी तो अधिक नहीं था, परन्तु पार जाने के लिए ठीक स्थान न था। पास में घर था। उस घर पर के एक सज्जन हमारी सहायता के लिए आये। कमर तक के उस वेगवान् प्रवाह में से हम एक एक करके सभी पार हो गये। वह ब्राह्मण कुमार जो हमें छोड़ने आया था, वह भी इस पार हो गया था। देखते देखते ही नदी बढ़ गई। पानी मैला और मात्रा में अधिक हो गया। उसने पार जाने की चेष्टा की परन्तु पार जाना खतरे से खाली न था। उसी किनारे उसे प्रतीक्षा करनी थी, जब तक नदी का वेग कम न हो। बेचारा हमें छोड़ने को आया, स्वयं फँस गया। यदि हम ५ मिनट पीछे आते तो संभवतः ५ घण्टे का अन्तर पड़ जाता।

भूला-जहाँ रामगंगा पर पुल है। वह स्थान यहाँ से लगभग २ मील होगा। ठण्डे ठण्डे में हम लोग पुल पार हो गये। पार की दुकानों पर केले थे। पेट भर केले खाये। इसी में हमें लगभग १० बज गये। रेतौली तो सामने दीखती ही थी, और जाना भी दो मील से कम ही था, इसीसे कुछ जल्दी न थी।

परन्तु हम गर्म जगह में थे। यहाँ पर धूप बड़ी तेज होती है। तिस पर खड़ी चढ़ाई थी। वे दो मील हमने डेढ़, दो घण्टे में काटे होंगे। वहाँ पहुँचने तक पसीने से तर थे।

रेतोली मुआनी ऊंचे में बसा है। बहुत सुन्दर स्थल है। प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से, जल वायु की दृष्टि से और आध्यात्मिक स्वप्नों की दृष्टि से भी। वहाँ पर हम मानों घर में ही थे। सभी प्रकार की सुविधा थी। हम सम्पन्न सद्गृहस्थ में अतिथि बन कर गये थे। किसी प्रकार के कष्ट की संभावना ही न थी। खूब आराम किया। शाम को दवाई का दौरा चला। इधर उधर से भी लोग आये, जिनको आवश्यकता थी और पता चल गया था। छोटी रानी साहिबा की सरलता बहुत श्लाध्य है।

संध्या-समय कुछ बादल लगे थे। सूर्यास्त का समय था। मन भी घूमने के लिए उछला और टाँगें भी। आज तो केवल ४ ही मील चले थे। मैं पश्चिम दिशा में एकान्त में दूर निकल गया। बादलों का धुआँ उठ रहा था। वहाँ पर पूर्ण निस्तब्धता थी। प्रकृति देवी अपने हरित बसन पहने मनोरम दीखती थी। वहाँ पर मन यदि भजन के लिए बैठने को बाधित करे तो क्या आश्चर्य? मैं बैठा। बूँदों ने आकर मुझे भगा दिया। रात को बड़े आराम से सोये।

अगले दिन के प्रोग्राम की चर्चा तो पहिले से ही चल रही थी। मैं जानता था, खाकर ही जाना होगा और सभी को जाना होगा। दीदी हमें छोड़ने का साहस कदापि न कर सकती थी। वह तो हंसी हंसी में ही वहां रुक जाने की बात कर रही थी।

———

वह कोटेश्वर की धार

(४१)

दूसरे दिन प्रातः खाते पीते ६ से अधिक हो गये और रास्ता लगते ६½। थोड़ी दूर तक तो रास्ता ठण्डे ठण्डे में जाता है परन्तु फिर उतरना होता है। १० बजे से ही धूप खलने लगी। खाकर के चलना वैसे ही मुश्किल होता है। और धूप में तो कहना ही क्या। यदि चढ़ाई भी हो तो कुछ पूछो न बात।

रास्ते रास्ते में इतनी धूप कभी न लगी थी। हम लोग गहरे में आये, पहाड़ी नदी पार की और चढ़ना आरम्भ किया। प्यास भी खूब लग रही थी, पसीना भी खूब आ रहा था। पाँव बहुत धीरे धीरे उठते थे। मन बेईमान होता था, छाया देख कर रुकने के लिए। दाड़िम धूप में लाभदायक भी होते हैं और खाने में अच्छे भी लगते हैं। एक चढ़ाई चढ़ने के बाद रास्ते में से लिए हुए दाड़िम खाये, साथ में रक्खे हुए आम और केले भी समाप्त किये। हम लोग २-३ मील आये होंगे। घड़ी में १२½ बजे थे। हमें अभी एक और चढाई लेकर सड़क में पहुँचना था।

कुछ दूर तक रास्ता मैदान सा था। जंगल में से चीढ़ के पेड़ों की छाया में से। फिर नदी पार करके ऊपर-ऊपर ही ऊपर चढ़ता था। वह दोपहर का सूर्य—माताओं के सिरों पर तो बोझे भी थे, अतः बहुत ही धीरे धीरे वे चल पाती थीं। दीदी

तो बहुत परेशान हो रहीं थी। अन्तिम आधा मील तो बिल्कुल धूप ही थी। वहाँ पर पेड़ भी न थे। आखिर २½ बजे के करीब हम लोग मौलसरी के पेड़ के नीचे पहुँचे। वहीं पर सड़क थी। वहाँ पर मातायें तो सभी लेट गईं। परन्तु लेटने से रास्ता तो कुछ कटता ही न था। तीन बजे हम लोगों ने सड़क के पार पगडण्डी को पकड़ा। यहाँ से हम 'बौर गधेरे' पर अल्मोड़े वाली सड़क को पकड़ना था। यहां से तीन मील की पगडण्डी हमें वहाँ पर ले जाती है। रास्ता पहाड़ी नदी के किनारे किनारे खेतों में से जाता है। बादलों ने हम पर बहुत रास्ता छाया किये रक्खी। हम लोग ४½ बजे सड़क पर पहुँचे। तभा बादलों ने भी बूदाबाँदी आरम्भ कर दी। यह डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की वही सड़क थी जिसे हमने डोडीहाट के बाद छोड़ा था। मैं इस रास्ते पर कितना ही बार जा चुका हूँ। मेरे लिए यह किसी भी प्रकार की नूतनता से रहित था।

यहां से गणाइ गंगोली आठ मील होता है। हम चाहते थे कि रात वहीं पहुँच जायें, परन्तु सभी कुछ गिन्ती में तो आता नहीं। हमने वर्षा का हिसाब ही न लगाया था और उस थकावट का जो कोटेश्वर की धार ने पैदा की थी।

बांस का पुल पार करके हम २ मील आगे निकल आये होंगे जब उमड़ते हुए काले २ बादलों ने धमकाना आरम्भ किया। थोड़ी वर्षा में हम रुकेंगे नहीं, यह निश्चय था, परन्तु वर्षा तो ज़ोर की भी आई। चाहते हुए भी रुकने का स्थान तो था ही नहीं।

गणाई से १ मील इधर तपोवन नाम का एक स्थान है। वहां पर एक दुकान है। उसी को उद्देश्य बना कर चलते चले गये।

डायरी में जन्माष्टमी २० तारीख को लिखी थी, परन्तु स्मार्त लोगों की जन्माष्टमी १९ अगस्त को ही थी अतः हम लोगों को १९ प्रातः ही पहुँच जाना चाहिए था। अन्यथा यह दौड़ धूप व्यर्थ रह जाती। यही कारण था कि इतनी जल्दी हो रही थी।

लगभग ७½ बजे शाम, काफी बरसते हुए में हम लोग वहां पहुँचे। अंधेरा हो चुका था। दुकानदार को स्थान के लिए पूछा तो उसने एक टपकने वाला-बिना दीवारों का-तीन ओर से खुला छप्पर दिखा दिया। यह बड़ा अच्छा स्वागत था। दीदी आई। उसका तो परिचय था। नमस्कार पुरस्कार के बाद हमारे लिए एक नया कमरा खुल गया। दीपक भी जल गया। जलती हुई आग भी मिली और बिछाने को बोरियाँ भी परिचय भी समय पर काम आता है।

रात उसी कमरे में सोये। वर्षा आधी रात को बन्द हुई होगी। प्रातः बरस न रहा था। हम लोग ५ से पहिले ही रास्ता लग गये।

———

रीठागाढ़ का धाम

(४२)

गणाई में पहुँचने पर हमें रास्ता अच्छी तरह से दीखने लगा था। इस हिसाब से हमें जल्दी ही शेराघाट पहुँच जाना चाहिये था। गणाई से शेराघाट ६ मील ही तो होता है, परन्तु बीच में अभी कुछ और भी था।

गणाई से लगभग १ मील में एक पुल है। वहीं पर स्नानादि कर हम आगे बढ़े। मैं आगे ही कह आया हूँ कि यह रास्ता मैंने कई बार देखा है। वास्तव में इस रास्ते पर दो पुल आते हैं, परन्तु मुझे एक ही का ख्याल था। दूसरा मन में यह ग़ल्त संस्कार पड़ गया था कि गणाई नरुआघोल से दो ही मील होती है। जबकि वास्तव में वह ३ मील तो है ही, शायद ज़रा अधिक हो। उस दूसरे पुल से नरुआघोल बिल्कुल पास है। पगडण्डी भी जाती है। मैंने उस पुल को इस पुल से गड़बड़ा दिया। पुल पार ही एक गाँव है, उसका रास्ता ऊपर जाता था। उसे पगडण्डी मानकर पकड़ लिया। इतने से भी कुछ नहीं बिगड़ता था, यदि मुझे दिशा भ्रम न हुआ होता। हम लोग आसानी से फिर ऊपर सड़क पकड़ सकते थे। उस दिग्भ्रम के कारण हमने रास्ता दायीं ओर को लिया और एक गाँव में पहुँचे। रास्ता पूछने पर पता चला कि नरुआघोल यहाँ से तीन ही मील है। खूब मजे की

रही। मैं इस ग्रंथि को तब सुलझा न सका कि यह कैसे ? दिशा को पूछ कर चल दिया, खूब कूदफाँद की। बेचारा कपूरीलाल मेरे साथ था। पाँव का कष्ट तो था ही, उनको मानसिक उत्ताप भी हुआ। मैं तो इसमें भी मजा मानता हुआ चलता गया। आखिर उसी सड़क को पकड़ा आगे आकर। यह शार्टकट, लौंग कट बन गया। हमने लगभग १ घण्टा खोया और दो मील की फालतू सैर की। मातायें रास्ते में बैठी हमारी बाट जोहती रहीं। नरुआघोल में ही उनसे फिर भेंट हुई।

दीदी के उदर में पीड़ा थी, और वह परेशान थी, उसके कारण हमारी गाड़ी के और ढीला होने की सम्भावना थी, परन्तु निराशा का पाठ मैंने पढ़ा ही नहीं। हम लोग लगभग ६ बजे शेराघाट पहुँचे।

शेराघाट सरयू के तट पर है। बागेश्वर गर्म जगह है, शेराघाट तो उससे भी नीचा है। यहाँ तो खूब तपता है। नदी के उस पार से रीठागाढ़ की पट्टी लगती है। अल्मोड़ा की बहुत गर्म पट्टियों में से है। और यह आगे वाला रास्ता भी ठीक ही अपनी परेशानी पैदा करने वाली गर्मी के कारण बदनाम है।

मीलों मैं नंगे पांव चलता आया था। पावों को कष्ट प्रतीत न होता था। वर्षा होने पर पानी में से चलने पर विशेष मजा आता था, बचपन फिर से मानो मुझ पर सवार हो जाता हो, परन्तु जब से गणाई वाली सड़क पकड़ी, पत्थर के टुकड़ों ने पाँव मानों छीलने आरम्भ कर दिये। यह सारा रास्ता ऐसे पत्थर के टुकड़ों से पटा है। शेराघाट से आगे के लगभग १० मील तो बहुत प्रसिद्ध हैं अपने चुभने वालों कंकड़ों के लिए। यह और

भी इस रास्ते की विशेषता है। इसी रास्ते पर आज हमें चलना था।

शेराघाट में दूकान में दूध था। गर्ब्यांग से यहाँ तक रास्ते में जहाँ कोई दुकानें थीं, वहाँ केवल चाय ही प्राप्य थी, आज शेराघाट में ही प्रथम हमने बिक्री के लिए दूध देखा। भूखे तो थे ही। किसी ने दूध पिया और किसी ने दही खाया। इस बीच लगभग ६½ का समय हो रहा था। हम लोग चल दिये।

माताओं के मन में तो मन्सूबे थे कि आठ मील चलकर खाना पीना होगा, परन्तु मैं जानता था कि ये सभी मनोहर कल्पनायें हैं, जो वास्तविकता में परिवर्तित न होंगी। यदि हम कनारीछीना जो शेराघाट से लगभग ५ मील होता है पहुँच सकें, खाने के लिए तो बड़ी बात होगी।

धूप खूब ही तेज थी। दीदी को तो कल की धूप ने उस कोटेश्वर की चढ़ाई में, व्याकुल कर रखा था। आज तो वह और भी शिथिल थीं। पेट में भी पीड़ा थी। हम लोग एक मील गये होंगे कि दीदी वृक्ष की छाया में पड़ गईं। हम सभी लोग बैठ गये। सड़क के पार लगभग १ फर्लांग पर दो मकान थे। यदि छाछ मिल जाय तो इस धूप में शान्ति हो, इस विचार से दो माताओं को पात्र देकर भेजा। दीदी तो आगे चलने में अपने को असमर्थ ही समझ रही थी। वह तो चाहती थी कि वहीं पर खा पीकर मध्याह्न के बाद चला जाय। छाछ तो वहाँ पाई नहीं, परन्तु खाने का सामान और खाना बनाने के लिए सामान भी मिलना मुश्किल था। वे दोनों मातायें अभी लौटी भी न थी कि एक गेरुआ वसन माता आ गईं। वह दीदी की स्नेही थीं।

उसकी कुटिया भी वहीं पर थी। उसने दीदी को कभी निमन्त्रित भी किया था। उसने हम सभी को अतिथि रूप में सहर्ष स्वीकार किया। हमारा परिवार तो बड़ा था, परन्तु उसका हृदय भी उदार था और स्नेह पूर्ण। अस्तु, हम लोग नीचे मकानों तक गये। मातायें भी धीरे धीरे अपनी गठरियाँ ले कुटिया मे जा पहुँची। कपूरीलाल और मैंने एक मकान में ही आश्रय लिया। बाहर जमीन तप रही थी।

कपूरीलाल की यहाँ पर मरहम पट्टी हुई। एक रोगी बालक के लिये औषधि दी गई। वही जो बिना परिचय के निठुर थे, अब द्रवित से हो गये। दीदी इन सभी को जानती थी। थोड़ा थोड़ा करके सभी सामान जुट गया। कहीं से दाल और शाक और किसी से दही। माता के पास कुटे हुए चावल थे ही। उसी की कुटिया में चूल्हा लगा। रसोई आज भी दीदी को ही बनानी थी।

पहाड़ में रसोई के बारे में बड़ी पेचीदगियाँ हैं। यदि चावल बनाने के लिये दीदी रसोई में न जातीं तो सभी मातायें अपना अपना चूल्हा अलग लगातीं। वे एक दूसरे के हाथ का खाती न थीं, विधवायें कच्ची रसोई में बहुत परहेज करती हैं। दीदी को ही यह बिरला अधिकार प्राप्त था, कि उसके हाथ का सभी खा लेती थीं।

खाना बन गया और सभी ने खा लिया। फिर माताओं ने खाया। दीदी तो और भी व्याकुल हो गई, उस गर्मी तथा आग से। वह तो कुछ खा ही न पाई। इतने में तीन बजने को थे। बिना चले तो हम लोग कहीं भी न पहुँच पाते। अस्तु, प्रेरणा करने पर मातायें भी उठीं और हम लोग सड़क पर पहुँच गये।

अब उतनी धूप न थी, परन्तु सड़क के पत्थर खूब चुभते थे, माताओं की गति मन्द थी। विचित्र निराशा मय विचार इनके मनों में घूम रहे थे। रास्ते में इनके परिचय की स्त्रियाँ मिल गईं, कुछ दुःखद समाचार मिले, इस कारण और भी पाँव धीरे उठने लगे। कनारी छीना में जाकर हम दोनों रुके। खूब प्रतीक्षा की, जब इनके कोई चिह्न न दीखे तो मैं लौटा। ये रास्ते में बैठी एक स्त्री से बातें कर रही थीं। मैं इनको लिवा लाया।

इस समय मेरे पावों की गति बिगड़ रही थी। जमीन पर एड़ी रखते नहीं बनता था। पर चलना तो था ही, सो चले ही।

यहीं जरा आगे से धौलछीने की चढ़ाई लगती है। अधिक खड़ी चढ़ाई तो ३ ही मील है। सूर्य प्रायः अस्त होने को था। उधर ऊँचे पहाड़ के लग जाने से यहाँ छाया भी जल्दी आती है। कनारी छीना से हम लोग आगे बढ़े तो ठण्डा हो रहा था।

यह चढ़ाई जितनी भयङ्कर पहिले प्रतीत हुआ करती थी, आज न हुई। एक तो ठण्डक थी, दूसरा चलते चलते टाँगें अभ्यस्त हो चुकीं थीं। इसमें भयङ्कर भयङ्कर न जाने कितनी चढ़ाइयाँ काट रखी थीं। यह तो कुछ भी न थी।

यह तीन मील का रास्ता बहुत जल्दी कट गया। इतनी जल्दी कट जायेगा ऐसी आशा न थी। यहाँ टुँग में एक परिचय वाले की दुकान थी। यहीं हमें रात को विश्राम करना था। सभी प्रकार की सुविधा हमें प्राप्त थी। दीदी को आज रसोई की छुट्टी रही। वह तो लेटी ही रही। हम लोग अगले दिन प्रातः अपने

अपने स्थानों पर पहुँच जायेंगे, यह सुनिश्चित था। रात के पिछले पहर में चाँदनी थी ही। अतः बहुत जल्दी चलने का निश्चय कर सो गये।

प्रातः ४ ही बजे हम लोगों ने रास्ता पकड़ा। चाँदनी बहुत तो थी नहीं अष्टमी का चाँद था, परन्तु चलने में कठिनाई न थी। हम लोग लगभग २ मील आये होंगे जब दिशायें खुलीं। वह उषा की लालिमा पूर्वाकाश को रञ्जित किये थी। हृदयाकाश में उठती हुई आशा की ऐसी ही तो आभा होती है।

यह रास्ता बड़ा रम्य है। जंगल में से होकर जाना होता है। और ठण्डा भी है ही। धौलछीना से आधा मील नीचे एक दुकान पर थोड़ा विश्राम किया। आगे चलकर पगडण्डी पकड़ी और एक पहाड़ी नदी पर आ पहुँचे। यहीं पर स्नानादि करने की सोच रक्खी थी।

नदी का पानी खूब स्वच्छ था। ज़रा डुबकी लगाने को नीचे गहराई भी थी। इधर की चट्टानें उस स्थान को भला बना रही थीं। मैं वहां नीचे चला गया। आज के स्नान में भी एक सन्तोष तथा कृत कृत्यता थी। चैन से स्नान किया। भाव उमड़ रहे थे कृतज्ञता के और वह विगत स्मृतियां सजीव हो उमंग रही थीं।

अब तो बाड़े छिना तीन ही मील होता है। अधिक उतराई है और कुछ मैदान रास्ता। ज़रा सी चढ़ाई भी है। जंगल में से उस प्रातः का चलना बड़ा भला लगता था। कपूरीलाल तो स्नान के लिये रुके न थे दीदी तथा मैं बीते हुए दिनों की और घटनाओं की चर्चा करते करते बाड़े छिना आ पहुँचे। थोड़ी देरी में मातायें भी आ गईं। यहीं से हम सभी को अलग अलग हो जाना

था। कपूरीलाल तथा मुझको दिगोली जाना था और बाकी सभी को अपने अपने गांवों को, जो समीप ही थे।

यात्रा से लौटने पर मित्रों के मिलने में स्नेह की मात्रा विशेष रहती है। यात्री में वह भगवान की झलक देखते हैं। दूध से मेरा खूब सत्कार किया गया। जन्माष्टमी का उपवास तो था ही, अतः मैंने उसे स्वीकार किया। लगभग १० बजे हम दिगोली आ गये, इसी कुटिया में।

यह वही स्थल था, जिससे मैं खूब परिचित था, परन्तु आज इसमें नूतनता सी दीखती थी। वे ही मित्र घेरे बैठे थे, परन्तु एक निस्तब्धता-सी व्याप्त हो रही थी। वाणी लजाती सी लगती थी। कैलाश यात्रा का महत्व आज कुछ भारी-सा हुआ, हम सब पर छा रहा था। थोड़ी ही देर में सब संकोच छिन्न-भिन्न हो गया।

यह यात्रा की प्रवृत्ति थी। कैलाश-पथ का पथिक आज लौट ही आया।

बाकी पार्टी भी दूसरे दिन प्रातः आ गई। वे लोग भी हमारे पीछे पीछे तेजी से चलते चले आये थे। स्वामी जी दूसरे दिन सांझ को पहुँच पाये।

यात्रियों से

(४२)

मैंने यात्रा के वृत्तान्त को पथ-प्रदर्शन के लिए नहीं लिखा। इस प्रयोजन के लिए लिखी गई स्वामी प्रणवानन्द जी की पुस्तक है और अन्य भी हैं। फिर भी प्रसंगवश मैंने अपनी कठिनाइयों की चर्चा की है। उसी से कैलाश पथ के यात्री बहुत कुछ सीख सकते हैं।

स्पष्टतः ही जोहार का मार्ग अधिक कठिन है, परन्तु हिम दृश्यों के दर्शन भी जैसे यहाँ होते हैं वैसे लिपुलेख के घाटे में नहीं इस रास्ते से जाने के लिए, घाटों को पार करने में किन्हीं बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

हो सके तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए सवारी का प्रबन्ध होना चाहिए। घोड़ों के बारे में भी यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि वे थके हुए न हो। धुरों से इधर टुंग में ही रहना चाहिए और प्रातः ही चल देना चाहिए, अधिक से अधिक ६ बजे तक। यदि देरी हो जाय तो उस दिन का चलना स्थगित करना ही श्रेयस्कर है। घोड़े वालों की बुद्धि पर आश्रित रहने से धोखा होने की ही अधिक संभावना है। साथ में लकड़ी का प्रबन्ध रखना भी अनिवार्य है। भले ही उसकी आवश्यकता न पड़े।

आवश्यकता पड़ने पर जयन्ती के पार नजगाँव में पड़ाव किया जा सकता है।

बेहोशी, मिचली, सिर दर्द तथा कमजोरी के लिए दवा पास रखनी चाहिए और यथा सम्भव साथ-साथ चलना ही ठीक होता है। खाने पीने का सामान इस रास्ते जाने वालों को लगभग २१ दिन का रखना चहिए। सामान्यतः व्यक्ति जितना खाता है उससे कम से कम डेढ़ गुणा रखना चाहिए। और साथ में चंवर वाले तिब्बती, दुभाषिये और माँगने वालों के लिए भी सामग्री रखनी चाहिए। तिब्बत में अनाज की कीमत पैसे से कई गुणा अधिक है। अतः लकड़ी आदि भी अनाज से ही बदलना ठीक होता है तिब्बती सिक्कों की (टाँकों की) आवश्यकता नहीं पड़ती।

खाने पीने के सामान में आटा सबसे मुख्य है। सत्तू तथा चिउड़े भी विशेष उपयोगी हैं। गुड़ पापड़ी (पंजीरी भी) बहुत काम निकालती है। गुड़ साथ में रखना अच्छा रहता है। चलने में भी काम आता है और गरमाई भी देता है। घी साथ में ले जाना ही अच्छा होता है। वहाँ का घी सभी लोग खा नहीं पाते। मेवे भी हितकर होते हैं।

सुखाये हुए शाक विशेषकर पत्ती वाले। अत्यन्त आवश्यक हैं। धुरों के प्रभाव से जिगर सुस्त हो जाता है। वैसे भी तिब्बत का खुश्क जाड़ा जिगर को ही विशेषतः प्रभावित करता है। पत्तीदार शाक जिगर के लिए विशेष हितकर होते हैं। यदि धुरों के लिए इस प्रकार का कोई शाक बना कर रखा जाय, अथवा मूली आदि कच्ची रखी जा सकें तो बहुत संभव है कि उतना प्रभाव न पड़े।

घाटे पार करने में स्थान स्थान पर बैठने से और अधिक तकलीफ होती है। खड़े ही आराम कर, आगे चलते जाना चाहिए। बेहोशी होने पर घबराना नहीं चाहिए। Spirit Amonia सुंघाने से यदि लाभ न हो तो मुह में डाल देने से होश आने की संभावना रहती है।

इस रास्ते जाने वालों के लिए, पानी के लिए बोतल साथ रखनी बहुत आवश्यक है। कई दिन रास्ते में दिन भर पानी नहीं मिलता। यदि अधिक मात्रा में पानी रखने का प्रबन्ध हो सके तो लिक्शिफू के लिए पानी लेकर चलना चाहिए।

फुल बूट्स ठीक काम दे सकते हैं। अन्य जूते ओले गिर जाने पर जाड़े और पानी को रोकने में असमर्थ रहते हैं।

पार्टी बहुत बड़ी न होनी चाहिए। ४-५ आदमी और एक नौकर यही समुचित प्रमाण प्रतीत होता है। अन्यथा रसोई बनाने में विशेष दिक्क़त की सम्भावना है। अधिक आदमी हों तो दो अथवा अधिक जगह भोजन बनाने का प्रबन्ध होना चाहिए।

वैसे तम्बू, जिसमें भोटिये दूकान लगाते हैं, बहुत अच्छे रह सकते हैं। किराये पर लेने की बजाय अपना बनवाना ही अच्छा है। तकलाकोट में बेचा जा सकता है। उससे आगे तम्बू की आवश्यकता भी नहीं होती। नीचे के जाड़े को रोकने के लिए खालें ठीक रहती है, और ऊपर के लिए कम्बल। रजाई ठण्डी हो जाती है और फिर गर्म होने में नहीं आती।

जाने का समय जुलाई का आरम्भ ही सर्वोत्तम है। बहुत जल्दी जाने में भी धुरों में बर्फ अधिक मिलता है। बाद में जाने

में तिब्बत में मौसम खराब होने की अधिक सम्भावना है। भारत की वर्षा और तिब्बत की ऋतु का कोई सीधा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। हम लोगों को तिब्बत में वर्षा तकलाकोट में अगस्त के प्रथम सप्ताह में मिली परन्तु अल्मोड़े में जुलाई में अति वृष्टि रही।

॥ समाप्त ॥

शुद्धि-पत्र

केवल आवश्यक अशुद्धियाँ ही दी गई हैं।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	१२-१३	थी वो भी ऐसी	थी ऐसी
	२४	मुक्त	युक्त
१४	१६	भूलगे	भूल गए
१७	२	धर्म पर	धर्म घर
२४	शीर्षक	रोड	शेड
२५	२४	ढेकी	ठेकी
२६	१५	देवदास	देवदारु
३०	१६	चेस्टनर	चेस्टनट
३८	४	कुली रोड	कुली शेड
३६	१४	भींगनो	मींगनों
४१	१	१६०००	१००००
४४	७	चांद	चांदी
४६	१६	को प्रयास	के प्रयास
४८	१६	टुंग	दुंग
६४	२	थोड़े	घोड़े
६८	२४	से	में
७२	१४	एक पीछे दूसरा	पीछे एक दूसरा
७६	१०	पर धार से	धार पर से
६२	६	निघड़	तिप्पड़

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९४	१५	रस्ती	रस्सी.
११७	२८	Shamkars	Shamkara
१३७	१९	अन्य	अन्न
१४०	१३	सान्तना	सान्तता
१५९	१३	दुकानों दुकानों	दुकानें दुकानों
१६२	१४	टुंग	दुंग
१६६	१५	दमनीय	दयनीय
१७४	४	और न, ही	और न ही
१७६	२०	वर्णन	वर्णित
१७९	७८	धाबुड़ी	धाकुड़ी
१८३	५	मिटा	पिटा
१८५	१२	डालियों	डालियाँ
२०७	२४	के लिए	के लिए पत्र
२०८	१	आदि यात्रा के	यात्रा के आदि
२२४	१२	टुंग	दुंग

श्री स्वामी रामानन्द जी का साहित्य

साधना—कार्यालय

की

पु

स्त

कें

— एक सूचिपत्र —

साधना कार्यालय, पो० बीसलपुर
जिला पीलीभीत, (उत्तर-प्रदेश)

१. अध्यात्म विकास

जीवन के प्रति एक सन्तुलित व्यवहारिक और साथ ही साथ आध्यात्मिक दृष्टि कोण हमें प्राप्त हो सकता है इसके मनन के द्वारा। जीवन की विषम समस्यायें और जीवन की घोरतम घटनायें भी इस उच्च दृष्टि को लाभ कर अपनी घोरता को खोकर पाठक के लिये मंगलमयी हो सकती हैं यह जीवन का एक गहरा और ऊँचा अध्ययन है।

सजिल्द पृष्ठ १७६ मूल्य २।) सवा दो रुपये।

२-३. आध्यात्मिक साधन २ खण्ड

अनुभव के आधार पर आश्रित वैज्ञानिक दृष्टि से विकास के साधन-पथ का विशद वर्णन हमें इन दो खण्डों में प्राप्त है। साधना की व्यवहारिक समस्याओं का हल मिलेगा, साधना का व्यवहारिक जीवन में साधना का क्या अर्थ है इस ग्रन्थ से हमें यह जानकारी होगी और भीतर के अनुभवों पर प्राप्त होगा प्रकाश। यह पुस्तक साधकों के लिये उपयोगी संगिनी है। पग-पग पर रास्ता बताने वाली है। इसके समुचित अध्ययन के बिना साधना के विषय में समुचित बोध असम्भव है और साधक के पथ-भ्रष्ट हो जाने की बहुत गुंजाइश है।

सजिल्द प्रथम खण्ड : पृष्ठ संख्या १५५।

मूल्य २) दो रुपया

द्वितीय खण्ड : पृष्ठ-संख्या १५५। मूल्य २) दो रुपया

४. उत्पादिनी शक्ति अथवा जीवन रहस्य

(Sex & Spirituality)

रचनात्मक-अध्यात्म काम की समस्या को कैसे देखता है और इसका क्या हल देता है, यह इस पुस्तक का विषय है। व्यक्ति, समाज राष्ट्र और मानव समाज के जीवन में यह काम की समस्या विशेष महत्त्व वाली समस्या है। पश्चिम के मनोवैज्ञानिक अपना हल बताते हैं। पूर्व ने भी इसका एक हल दिया है। विकास के ऊँचे और

व्यवहारिक दृष्टिकोण से इस समस्या पर विचार किया गया है। इस विषय में हमारी बहुत परेशानियाँ ना समझी के कारण होती हैं।

"यह अपने विषय का बेजोड़ ग्रन्थ है। बालक, युवक, युवतियों, गृहस्थों-साधकों, असाधकों-सभी के लिये उपयोगी है।"

यह शिक्षण संस्थाओं के पुस्तकालयों तथा उच्च माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षक और शिक्षिकाओं के लिये शिक्षा विभाग (बोर्ड) द्वारा स्वीकृत है। सजिल्द।

पृष्ठ संख्या १६१। मूल्य १।) सवा रुपया

५. हमारी साधना

श्रीस्वामी जी द्वारा साधकों के लिए लिखे गये पत्रों में से संकलित है। नये प्रवेश करने वाले साधकों को साधना के समझने में यह पुस्तक विशेष सहायक होगी। इसमें संक्षेप में हमारे साधन पथ का विवेचन किया गया है।

पृष्ठ संख्या १४४ मूल्य ॥≡) ग्यारह आना।

६. हमारी उपासना

आरम्भ करने वाले साधक को इस पुस्तक में हमारी उपासना के क्रियात्मक रूप का थोड़े से शब्दों में परिचय मिल सकेगा। उपासना के विषय में अन्य महत्व पूर्ण बातें-समय, स्थान, आसन, भजन-संकीर्तन, ज्योति, प्रसाद, आरती आदि के विषय में भी इसमें लिखा गया है।

पृष्ठ संख्या ४६। मूल्य ।–) पाँच आने।

७. साधना और व्यवहार

साधक के व्यवहार पर एक दृष्टिपात। श्री स्वामी जी के पत्रों में से सुन्दर तथा उपयोगी संकलन। पृष्ठ संख्या ३६। मूल्य ।) चार आने।

८. अशान्ति में

अशान्ति में शान्ति का मार्ग दिखा सकती है। पत्रों में से एक सुन्दर तथा उपयोगी संकलन। पृष्ठ संख्या १५। मूल्य ≡) दो आने।

९. पत्तियाँ और फूल

भजन-संकीर्तन का एक भाव-पूर्ण संग्रह।

पृष्ठ संख्या ७४। मूल्य ।–) पाँच आने।

१०. दम्पति के लिये

एक पत्र जो गृहस्थ जीवन के प्रति समुचित दृष्टिकोण बना सकता है। इसमें पति-पत्नी के पारस्परिक व्यवहार के सूत्र दिये हैं। सुन्दर, उपहार के योग्य निमन्त्रण-कार्ड सा छपा हुआ संस्करण विवाह के अवसर पर उपहार दीजियेगा पति-पत्नि को।

पृष्ठ-संख्या--९

साधारण संस्करण : मूल्य)॥ दो पैसा।

विशेष संस्करण : „ ॥) आठ आना।

११. कैलाश-दर्शन

कैलाश की यात्रा का एक सजीव तथा सरस विशद वर्णन। पुस्तक एक उपन्यास की भांति रोचक है। यह इस महत्वपूर्ण यात्रा में हुए अनुभवों की एक झलक पाठक में जागृत कर सकती है।

"वाणी भी उन उच्च अनुभूतियों को प्रकाट करने में थोड़ी ही सफलता प्राप्त कर सकती है। वाणी संकेत मात्र करेगी। आँख वाले देख पायेंगे, उस संकेत से ही। इस महती सीमा के होने पर भी यह खेल खेलने लायक है। यह प्रयत्न ही एक आनन्द का कारण है। .....यही प्रेरणा है इन आगामी पृष्ठों की।"

(कैलाश दर्शन की भूमिका से)

१२ चित्रों सहित, सजिल्द; सुन्दर।

पृष्ठ संख्या २२७ मूल्य १॥।) एक रुपया बारह आने।

१२. माता पिता के प्रति

एक पत्र जो बच्चों से माता-पिता के व्यवहार के विषय में जानकारी है।

१३. साधकों के लिए

साधना के सूत्र। सूत्र रूप में।

१४. साधना कैम्प

आध्यात्मिक साधन कैम्प चर्चा, नियम, अनुशासन तथा कैम्प के लिये आवश्यक सामग्री आदि के विषय में परिचय।

१५. शब्दार्थ सूची

अध्यात्म विकास तथा आध्यात्मिक साधन के दोनों भागों के कठिन शब्दों की अर्थ माला।

श्रीस्वामी जी के चित्र भी कार्यालय से मिल सकते हैं।

मूल्य बस्ट ३॥) पूरा १॥) छोटा साइज़ बस्ट १॥)

नोट—१. श्रीस्वामी सच्चानन्द जी महाराज की निम्नलिखित पुस्तकें भी कार्यालय से प्राप्त की जा सकती हैं।

१. भाषा-गीता

मोटे अक्षरों में श्री मद्भगवद् गीता का सरल टिप्पनी संहित अर्थ।

सजिल्द मूल्य... १/

२. भक्ति प्रकाश

पद्य तथा गद्य में भक्तों के लिए सरल, उपयोगी तथा सरस सामग्री।

सजिल्द मूल्य.... २॥।/

३. बाल्मीकीय रामायणसार

पद्यमयी भाषा में बाल्मीकीय रामायण का सरस सार।

सजिल्द। मूल्य... २॥/

नोट—२ जिसका मूल्य नहीं लिखा है वे पुस्तकें केवल मात्र डाक खर्च (तीन पैसे के टिकट) भेजने पर कार्यालय से प्राप्त की जा सकती हैं।

IN ENGLISH

1. TO THE PARENTS English version of No. 12 Above. A letter of instructions to Parents about their treatment with childern.

2. FOR THE ASPIRANTS English version of No. 13 above. Guidance to Aspirants in brief

3. HOW TO SOLVE SEX PROBLEM IN SADHANA three letters dealing with the problem.

AS I UNDERSTAND.

A small booklet which can well serve as an introduction to Shri Swamiji's thought. It contains his views on Sadhana, Communism, Marriage. Asharamas, Religion, Divorce, etc. ctc

EVOLUTIONARY OUTLOOK ON LIFE.

Written in a charming, coversational and forceful style, the book is meant to cultivate the right outlook on life. It gives a comprehensive view of thoughts and things that can make life worth-living. A study of it will re-enliven you.

Write to the Karyalaya and book your copy in advance. The book is to be published shortly.

EVOLUTIONARY SPIRITUALISM.

It is a deep scientific and philosophical study of the evolutionary process and provides the basis for the Evolutionary Outlook on Life.

It contains chapters on Prana, the Evolution, of Prana, The Desire principle, Karma. Love, the Supreme Consummation, Reincarnation The principle of Evolution, The Master of Evolution, Evolutionary process and the Society, etc., etc.

It is expected to be out by September, 1952.

EVOLUTIONARY SADHANA

It will deal with sadhana, spiritual self endeavour for conscious evolution by the aspirant. It is expected to be a companion volume to the above two books.

It is expected to be out early in 1953.

कार्यालय से व्यवहार

१. कार्यालय से श्री स्वामी जी महाराज की पुस्तकें और चित्र प्राप्त किये जा सकते हैं।

पुस्तक विक्रेताओं को अपने प्रकाशनों पर कमीशन २०% कार्यालय देता है। ५०) से अधिक का माल एकदम मँगाने पर रेल पार्सल का खर्चा कार्यालय उठायेगा।

अधिक जानकारी के लिये कार्यालय से पत्र व्यवहार करें।

२. साधना-कार्यालय से पत्र-व्यवहार करने में स्मरण रखिए कि कार्यालय-केवल मात्र आवश्यक होने पर ही आपके पत्रों का उत्तर देगा। आपकी माँग तो आपका पत्र मिलने पर पूरी कर दी जायेगी। यदि आपको अपने पत्र के पहुँच की आवश्यकता हो तो कृपया जवाब के लिए पत्र साथ में भेजें।

३. श्रीस्वामी जी से पत्र व्यवहार कार्यालय की मार्फत किया जा सकता है। यह उनका स्थायी पता है। उनसे पत्र व्यवहार में भी जवाब के लिए पत्र साथ में भेजना ठीक होता है। पोस्ट मास्टर, अल्मोड़ा (उ० प्र०) की मार्फ़त भी उनसे पत्र व्यवहार हो सकता है। इन दोनों स्थानों से पत्र Redirect होते रहते हैं। पता लिखते समय Redirect करने के लिये स्थान छोड़ने का ध्यान रखना चाहिये।

४. अध्यात्मिक साधना केम्पों के आयोजन की जानकारी भी कार्यालय को जवाबी पत्र भेजकर मँगवाई जा सकती है।

कार्यालय को सूचना भेज कर पत्रिका मंगा सकते हैं। यह अवश्य ध्यान रहे कि इसका मूल्य केवल सदुपयोग मात्र ही है और इसका सदुपयोग ही हो।

प्रकाशक

हमारी त्रैमासिक पत्रिका

साधना

श्रीस्वामी जी के लेखों तथा विचारों को साधकों तक पहुँचाने के लिए यह पत्रिका चालू है। इसमें श्रीस्वामी जी के साधकों के लिए लिखे पत्र तथा उनकी श्रीमद्भगवद् गीता की व्याख्या, **गीताविमर्श** प्रकाशित होते रहे हैं। गत वर्ष से गीता-विमर्श के विषय में जल्दी की मांग के कारण केवल मात्र वही प्रकाशित होता है। वर्ष में तीन अथवा चार अध्याय निकलने का आयोजन है।

कोई भी व्यक्ति अपना नाम पता कार्यालय में साधना-परिवार में रजिस्टर करवा कर इसे मँगवा सकता है। इसके लिए कोई चन्दा नहीं है।

प्रतिवर्ष १५ दिसम्बर से १५ जनवरी तक इसका खर्चा चलाने के लिए अर्थ-संचय होता है। इससे पूर्व गत वर्ष के आय व्यय की रिपोर्ट 'साधना' में प्रकाशित हो जाती है। आगामी वर्ष का अनुमानित व्यय भी दिया जाता है। १५ जनवरी के बाद भेजे गए मनीआर्डर लौटा दिये जाते हैं। आवश्यक पूंजी उससे पूर्व प्राप्त हो जाने पर फण्ड पहिले भी बन्द कर दिया जायेगा।

प्रतिवर्ष अपना नाम पता कार्यालय को भेजना आवश्यक है। 'साधना' के रजिस्टर का प्रतिवर्ष नया संकलन होता है।

साधना की पुरानी प्रतियां भी कार्यालय से मिल सकती हैं। प्रथम अध्याय अप्राप्य है। वह रजिस्टर्ड पोस्ट से ही भेजी जाती हैं। उन्हें मँगवाने के लिए कार्यालय को १) भेजना चाहिए। रुपये का नोट लिफाफे में न भेजना चाहिए। टिकट, पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर भेजना ही ठीक तरीका है।

साधना-केम्पों के आयोजन की सूचना भी प्रायः पत्रिका में रहती है।

पत्रव्यवहार का पता—

व्यवस्थापक

साधना-कार्यालय

पो० बीसलपुर

जिला पीलीभीत (उ० प्र०)

———